विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ३

अंक ४

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा । टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर–दिसम्बर १९६५

प्रधान सम्पादक
स्वामी आत्मानन्द,

सह – सम्पादक
सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्य प्रदेश)
फोन नं० १०४६

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—

स्वामी विवेकानन्द (लन्दन, मई १८९६ ई०)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३] अक्तूबर - १९६५ - दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) -*- एक प्रति का १)

आत्मज्ञान की महत्ता

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

— यदि इस जन्म में आत्मा को जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्म में न जाना तब तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियों में उपलब्ध करके इस (अविद्यात्मक) लोक से ऊपर उठकर अमर हो जाते हैं।

— केनोपनिषद्, २।५

ईश्वर-कृपा

किसी गाँव में एक भक्त परिवार रहता था। उस परिवार का कोई सदस्य सख्त बीमार हो गया। तरह तरह की दवाएँ की गयीं पर कोई लाभ न हुआ। रोगी धीरे-धीरे मरणासन्न हो गया। इतने में किसी ने बताया कि अमुक गाँव में कोई तांत्रिक रहता है और वह वैद्यकी भी करता है। लोग तांत्रिक के पास दौड़े गये। तांत्रिक ने आकर रोगी की परीक्षा की और बोले, "हालत तो बड़ी नाजुक है, पर ईश्वर की कृपा हो तो काम बन सकता है। दवा के लिए जरूरत की चीजें इकट्ठी करना एक बड़ा कठिन काम है। सुनो, मैं जो कहता हूँ वह यदि ला दो, तो रोगी बच सकता है। जब स्वाति नक्षत्र में वर्षा हो, उस वर्षा का जल नरमुण्ड की करोटी में जमा हो जाय, एक साँप मेंढक का पीछा करता हुआ आये और मेंढक को फन मारने के समय मेंढक उछलकर भग जाय और उस साँप का विष उस नरमुण्ड की करोटी में गिर जाय, तब उस करोटी के जल में पड़े हुए साँप के विष को लेकर मेरे पास आना। मैं उसकी दवाई तैयार कर दूँगा। उस दवा के सेवन से रोगी आराम हो जायगा।"

जिसके घर में रोगी था, वह व्यक्ति दिन-मुहूर्त-नक्षत्र देखकर घर से निकल पड़ा और व्याकुल होकर वह सब खोजने लगा। मन ही मन वह ईश्वर से प्रार्थना करने लगा, "प्रभु ! यदि तुम योगायोग कर दो तभी काम बनेगा !" वह इस प्रकार आकुल होकर जा ही रहा था कि सचमुच ही उसे एक नरमुण्ड की करोटी पड़ी दिखायी दी। देखते

न देखते वर्षा भी होने लगी। वह व्यक्ति आशा से उत्फुल्ल होकर कहने लगा, "हे गुरुदेव, नरमुण्ड की करोटी भी मिली, फिर स्वाति नक्षत्र में वर्षा भी हो गयी और वर्षा का जल उस करोटी में जमा भी हो गया। भगवन्, अब कृपा करके बाकी कुछ चीजों का भी योगायोग कर दो!" उसकी व्याकुलता बढ़ने लगी। इतने में उसने देखा कि कहीं से एक विषधर साँप चला आ रहा है। देखकर क्या ही आनन्दित हुआ! साथ ही उसकी व्याकुलता इतनी बढ़ गयी कि उसका हृदय धड़धड़ाने लगा और वह कातर कण्ठ से प्रार्थना करने लगा, "हे गुरुदेव! अब तो साँप भी आ गया है। बहुत सी चीजों का योगायोग हो गया है। अब कृपा करो, प्रभु! जो कुछ बाकी है उसकी भी व्यवस्था कर दो!" उसके ऐसा कहते न कहते कहीं से एक मेंढक उछलता हुआ आ गया। साँप ने मेंढक को देख लिया और उसका पीछा करने लगा। उस व्यक्ति का दिल बाँसों उछ-लने लगा। वह साँस रोककर देखने लगा कि मेंढक उस नरमुण्ड की ही ओर भागा जा रहा है और साँप उसका पीछा कर रहा है। मेंढक नरमुण्ड के पास पहुँचा ही था कि साँप ने उसपर फनसे वार किया। मेंढक तो उछलकर दूसरी ओर चला गया पर साँप का विष नरमुण्ड की उस करोटी में गिर पड़ा। तब तो वह व्यक्ति आनन्द से विभोर हो जोरों से तालियाँ बजाते हुए नाचने लगा।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर की कृपा असम्भव को भी सम्भव बना देती है।

हम पवित्र और चिन्तारहित जीवन कैसे बिताएँ

श्रीमत् स्वामी बुधानन्दजी महाराज, अमेरिका

एक

मनुष्य एक दूसरे से बहुत सी बातों में और अनेक प्रकार से भिन्नता रखते हैं। वे प्रत्येक बात में और सभी प्रकार के विचारों में भिन्न होते हैं। किन्तु केवल एक बात को और सम्भवतः इसी एक बात को सभी सामान्य मनुष्य बिना किसी विरोध के स्वीकार करते हैं। वह बात यह है कि वे सब सुखी होना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वे सब एक चिन्तारहित जीवन बिताना चाहते हैं। चाहे वे आस्तिक हों या नास्तिक, सफेद हों या काले, साम्यवादी हों या असाम्यवादी, धनी हों या गरीब, ज्ञानी हों या अज्ञानी, पर सभी व्यक्ति बिना किसी विरोध के इस बात को स्वीकार करते हैं।

एक चिन्तारहित और सुखी जीवन बिताने की कामना का अंकुर प्रत्येक मनुष्य के हृदय तल में लहलहा रहा है। जीवन की चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए कभी-कभी लोग परस्पर विरोधी प्रयत्न करते हैं। यदि कुछ लोग चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए अपनी आवश्यकताओं को कम करने लगते हैं तो कुछ लोग इसी प्रयोजन से

अपने को अधिकाधिक कार्यों में व्यस्त कर देते हैं। कुछ लोग गाँवों में रहने चले जाते हैं और कुछ लोग शहरी जीवन की झंझटों में फँस जाते हैं। कुछ व्यक्ति अपने आवेगों को प्रशमित करते हैं, उदार बन जाते हैं और बुरी आदतों को छोड़ देते हैं, तो कुछ लोग अपनी वासनाओं के बाँध को खोल देते हैं, शराब पीने लगते हैं और अपराध करने लगते हैं।

चिन्ताओं से बचने के लिए कुछ लोग दान करना शुरू कर देते हैं, तो कुछ लोग पैसा बटोरने लग जाते हैं। कुछ लोग खेलों में रुचि लेने लगते हैं और कुछ लोग कला और दर्शन का अध्ययन करते हैं। स्वयं को चिन्ताओं से मुक्त करने के प्रयास में मनुष्य अपने लिए चिन्ताओं की अनंत शृंखला बना डालता है। चिन्ताओं के बोझ को न सह सकने के कारण लोग अतिवादी प्रयास करते देखे गए हैं। कुछ व्यक्ति अपने प्रियजनों के दुःख को न देख सकने के कारण उनकी हत्या कर देते हैं और स्वयं भी आत्मघात कर लेते हैं।

दो

यदि हम अपने जीवन का अनुशीलन करें तो हमें मालूम होगा कि भले ही हमारी आर्थिक स्थिति, समाज में हमारा स्थान और जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण कैसा भी क्यों न हो किन्तु हममें से प्रत्येक व्यक्ति के पास चिन्ताओं का अपना निजी कोष है। इसके अरिरिक्त हम सबको प्रायः यही अनुभव हुआ है कि चिन्ताओं को दूर

करने के लिये हम जितना प्रयत्न करते हैं, उससे हमारी चिन्ताएँ उतनी ही बढ़ जाती हैं। स्वयं को चिन्ताओं के जाल से मुक्त करने के प्रयास में हम उसमें अधिकाधिक उलझ जाते हैं। कभी-कभी हमें ऐसा भी लगता है कि एक चिन्ता के छूटते ही हमारे सिर पर तीन और चिन्ताएँ सवार हो जाती हैं। जैसे-जैसे हमारी आयु बढ़ती है, वैसे-वैसे हमारी चिन्ताएँ भी बढ़ती हैं। विशेषकर आज के संक्रमणशील युग में, भयपूर्ण संसार में और जटिल रूप से परस्पर-निर्भरशील समाज में हम जिसप्रकार का जीवन बिताते हैं उससे हमारे लिए चिन्ताओं के निकास के नये दरवाजे खुल जाते हैं।

और हम यह नहीं जानते कि हम इनसे छुटकारा कैसे पाएँ। हमें बलात् उनके साथ जीना पड़ता है। हम अपना काम करते हैं, मंदिर जाते हैं, सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेते हैं और मनोरंजन भी करते हैं लेकिन हम चिन्ताओं के बोझ से निरन्तर दबे रहते हैं। हम इस बोझ को उतार फेंकने का जितना अधिक प्रयत्न करते हैं, वह हमारे सिर पर उतना ही अधिक भारी हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अधिकांश व्यक्तियों का जीवन उलझनों से भर जाता है और वे विक्षिप्तावस्था के समीप तक पहुँच जाते हैं।

जब हम यह जानते हैं कि जीवन की कठोरताओं को कैसे कम किया जाय तब क्या यह आवश्यक है कि अधिकांश व्यक्ति इसी प्रकार का जीवन बिताएँ ? इस प्रश्न का सबसे सरल, ठोस और स्पष्ट उत्तर यह है कि इसप्रकार

का जीवन आवश्यक नहीं है। यदि उचित विधि से प्रयत्न किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति की चिन्ताओं को एक बड़ी सीमा तक कम करना सम्भव है, फिर भले ही उसकी जीवन-स्थिति कैसी ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त जीवन में एक ऐसी स्थिति तक पहुँचना भी असम्भव नहीं है जहाँ चिन्ताएँ हमारा स्पर्श तक नहीं कर सकतीं।

तीन

संसार में बहुत से ऐसे भी लोग हैं जिनका दार्शनिक और आध्यात्मिक समस्याओं से कोई सरोकार नहीं होता। यही नहीं, बहुत से तथाकथित धार्मिक लोग भी इन समस्याओं के झगड़ों में नहीं पड़ते। इसलिए इन समस्याओं को 'दर्शन की समस्या' और 'अध्यात्म की समस्या' कहा जाता है। भले ही हम इन समस्याओं का अध्ययन सैद्धान्तिक रुचि से प्रेरित होकर क्यों न करें पर वे आज हमारी समस्याएँ नहीं हैं।

भले ही चिन्ताएँ दर्शन या अध्यात्म की समस्या न हों पर चिन्ताओं की समस्या से प्रत्येक को जूझना पड़ता है। असल में, यही समस्या हमें मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाती है; इसी के कारण हमारी शिराएँ तनी रहती हैं; यही हमारी नींद उड़ा देती है और हमारे सुख को छिन्न-भिन्न कर डालती है। यह एक ऐसी समस्या है जो पल भर के लिए भी आँखों से ओझल नहीं होती।

और, यदि हम चिन्ताओं को नष्ट करने का उपाय नहीं जानते तो यह निश्चित है कि हम ईश्वर को पाने की विधि भी नहीं जानते।

अतः यहाँ पर एक असंस्कृत-सा, या कह लीजिए कि एक घटिये दर्जे का प्रश्न उठता है: क्या धर्म के पास हमारी चिन्ताओं का कोई ऐसा समाधान है जो मात्र वैचारिक न होकर यथार्थ रूप से हितकर हो? आइए, इसपर विचार करें।

यदि चिन्ता के कीड़े जीवन के पौधे को बिना किसी बाधाके चरकर नष्ट कर देंगे तो धर्म कहाँ रहेगा? यह सत्य है कि धर्म का अन्तिम रूप आत्मसाक्षात्कार है, किन्तु यह आत्म-साक्षात्कार जीवन के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। अतः धर्म को जीवन की प्रक्रिया से सम्बद्ध होना पड़ेगा और उसे जीवन के प्रत्येक सोपान और चरण में, उसके प्रत्येक ढलाव और मोड़ में घुला-मिला देना होगा।

धर्म को हमें निर्मल जीवन की वह कला सिखानी होगी जिससे हमारे भीतर एक ऐसे अविजेय दृष्टिकोण का उदय हो जो हमारे जीवन की यथार्थ समस्याओं के मुकाबले में खड़ा रह सके तथा उन्हें सुलझा सके। यदि धर्म यह कार्य करने में असफल है तो यह समझ लेना चाहिए कि उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में उस धर्म पर से हमारी आस्था उठ जाएगी।

भले ही यह बात असाधारण प्रतीत हो किन्तु असल में सभी सच्चे धर्मों की मूलभूत समस्या हमें निर्मल जीवन की कला सिखाना है। यह हिन्दू धर्म की सबसे मूलभूत और प्रमुख समस्या है। इस धर्म में जीवन की सभी सम्भावित समस्याओं का निदान मिल सकता है। महा-भारत में कहा गया है कि धर्म मनुष्य के विकास, संरक्षण एवं प्रगति के लिए है। अतः जो भी इस उद्देश्य की सिद्धि करता है वह धर्म है। इस लए जीवन की चिन्ताओं का समाधान धर्म में निहित है क्योंकि ये हमारे विकास, संरक्षण एवं प्रगति की बाधक हैं। किन्तु केवल इतना ही धर्म का एकमात्र कार्य नहीं है।

चार

चिन्तारहित जीवन का रहस्य निर्मल जीवन में निहित है। यह बहुत बड़ी बात है। हमारी समस्त चिन्ताएँ हमारे भीतर की मलिनता से ही उत्पन्न होती हैं। यह सम्भव है कि चिन्ताओं को बाहर में उत्तेजना मिल जाय किन्तु उसका मूल कारण हमारे भीतर ही होता है। यदि हम केवल इसी बात को समझ लें तो फिर निरन्तर परिवर्तन-शील संसार की स्थिति चाहे कुछ भी क्यों न हो, पर हम अपनी चिन्ताओं से छूट सकते हैं। यदि चिन्ताओं का मूल कारण हमसे बाहर होता तो समस्त चिन्ताओं को नष्ट करना सम्भव न हो पाता क्योंकि जो हमसे बाहर है उसपर हम पूरा नियंत्रण नहीं रख सकते।

जिस प्रकार चिन्तारहित जीवन की कुंजी निर्मल जीवन में निहित है उसी प्रकार निर्मल जीवन की कुंजी धर्मग्रंथों एवं धार्मिक उपदेशकों की शिक्षा के अनुरूप बिताए जाने वाले जीवन में निहित है। दूसरे शब्दों में, सत्य के आलोक में बिताया गया जीवन ही निर्मल जीवन हो सकता है। सत्य क्या है? सत्य का जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?—इसका ज्ञान धार्मिक ग्रन्थों और संसार के धर्मोपदेशकों के वचनों के अध्ययन से हो सकता है।

असल में, हमारा जीवन अनेक प्रकार की मलिनताओं से भरा हुआ है तथा ऐसा लगता है कि यह हमारे जीवन का एक अंग बन गया है। किन्तु हमारे हृदय के अन्तराल में सदैव इस मलिनता के प्रति विद्रोह होता रहता है। भले ही हमारे मस्तिष्क का एक भाग इसे स्वीकार करता हो और इससे आनन्दित होता हो किन्तु दूसरा भाग इसे सदैव नकारता रहता है। यह इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य जड़ और चेतन का रहस्यमय संघात है। हममें से प्रत्येक के अन्तराल में निर्मल जीवन की कामना छिपी हुई है। कभी-कभी तो हम इसकी विधि खोजते रह जाते हैं और सारा जीवन बीत जाता है। फिर भी हमारे मन में निर्मल जीवन की कामना बनी रहती है।

इस सम्बन्ध में बौद्धों के कुछ बहुत उपयोगी सुझाव हैं। वे कहते हैं:

"कई लोग ऐसे होते हैं जो त्रुटियों को ही अपना सहारा बना लेते हैं, और जब वे स्वार्थ, काम तथा अन्य

बुरी वासनाओं के जाल में फँस जाते हैं तब दुःख की उत्पत्ति होती है।

फिर भी सभी प्राणी सत्य को पाना चाहते हैं तथा सत्य ही हमारे रोगों का नाश कर सकता है और हमें शान्ति प्रदान कर सकता है।

जो सत्य को पाने की कामना नहीं करते वे जीवन के प्रयोजन को ही भूल जाते हैं।

वह धन्य है जो सत्य में निवास करता है क्योंकि सभी वस्तुएँ तो नाशवान् हैं किन्तु सत्य शाश्वत है।"

यद्यपि हम चिन्ताओं से छूटना चाहते हैं तथापि जीवन भर हमारी चिन्ताएँ बढ़ती ही रहती हैं। इस विचित्र स्थिति का बहुत छोटा सा कारण यह है कि या तो हम चिन्ताओं को दूर करने का उपाय नहीं जानते या जानते हुए भी ऐसा प्रयत्न नहीं करते जिससे हमारी चिन्ताएँ कम हो सकें। यह एक साधारण सी बात है कि यदि हम सचमुच अपनी चिन्ताओं को त्यागना चाहते हैं तो हमें उन्हें दूर कर सकने वाले उपायों का प्रयोग बड़े उत्साह से करना चाहिए। किन्तु अपनी चिन्ताओं को दूर करने के लिए कुछ भी करने के पहले हमें चिन्ता के स्वरूप को यथासम्भव स्पष्ट रूप से जानने का प्रयास करना चाहिए।

पाँच

हमारी चिन्ताओं के कुछ ऐसे विलक्षण तथ्य हैं जो सदैव हमारी दृष्टि से बच जाते हैं। यदि हम अपनी कुछ

चिन्ताओं के बेतुकेपन का विश्लेषण करें और उनकी एकान्त विसंगति को समझ लें तो भले ही वे हमें पचीस वर्षों से सालती रही हों पर वे उसी क्षण से नष्ट हो जाएँगी।

कहा जाता है कि हमारी पचास प्रतिशत चिन्ताएँ हमारे अतीत के जीवन से सम्बद्ध होती हैं, चालीस प्रतिशत चिन्ताओं का सम्बन्ध भविष्य से होता है तथा दस प्रतिशत चिन्ताएँ हमारे वर्तमान जीवन से उत्पन्न होती हैं।

अतीत से सम्बन्धित चिन्ताओं को पालने से क्या लाभ होगा? हमें इसकी क्या आवश्यकता है? अतीत से सम्बन्धित अधिकांश चिन्ताएँ पाप और उसके अनिवार्य फल की भावना से जुड़ी रहती हैं। कुछ चिन्ताएँ केवल व्यक्तिगत पाप-भावना से ही नहीं अपितु जातीय एवं राष्ट्रीय पापानुभूति से भी सम्बन्धित होती हैं। कुछ लोग 'आदिम पाप' (ओरिजिनल सिन) की धारणा को चिन्ताओं का मूल कारण समझते हैं। इस प्रकार पाप की तीन कोटियाँ होती हैं: पहली कोटि में व्यक्तिगत पाप आते हैं, जिनका परिणाम सन्निकट होता है। दूसरी कोटि में जातीय या राष्ट्रीय पाप सम्मिलित हैं जिनका भागी व्यक्ति को केवल इसलिए बनना पड़ता है कि उसका जन्म एक विशिष्ट जाति या देश में हुआ है। आदिम पाप तीसरी कोटि है जिससे व्यक्ति का छुटकारा इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वह मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुआ है।

अतीत, भविष्य और वर्तमान से सम्बन्धित समस्त

चिन्ताओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनका बहुत सा दबाव केवल स्पष्ट, अभावुक एवं बौद्धिक चिन्तन के द्वारा दूर किया जा सकता है।

हममें से कुछ लोगों को इस मनोरंजक तथ्य का पता चला होगा कि जब हम गिलास को पानी से भरा समझकर उठाने जाते हैं तब हमें अकस्मात् गिलास हलका लगने लगता है। इसका क्या कारण है? कारण यह है कि जिस गिलास को हम पानी से भरा समझते हैं वह असल में खाली होता है। जब हम गिलास को पानी से भरा समझते हैं तब हमारा मन उसके भार का अनुमान कर लिया होता है। पर जब गिलास वस्तुतः खाली होता है तब उसका भार हमारे सोचे गए भार से कम हो जाता है। इसीलिए हम गिलास को हलका समझते हैं जबकि उसका भार न तो कम होता है और न अधिक ही।

अथवा कल्पना कीजिए कि एक ईंट जोड़ने वाले कारीगर के हाथों में सहसा एक सोने की ईंट आ गयी जिसे उसने अपनी जिन्दगी में कभी नहीं देखा है। जब वह उसे उठाता है तो उसे बहुत भारी पाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि उसने जीवन भर मिट्टी की ही ईंटें उठाई हैं। जब वह सोने की ईंट उठाने लगा तब उसने सोचा कि इसका वजन भी मिट्टी की दूसरी ईंटों के समान ही होगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसलिए उसे वह ईंट काफी भारी लगी। किन्तु सोने की ईंट का वजन न तो घटा था और न बढ़ा ही।

इन दो उदाहरणों से हमें बड़ी हितकर शिक्षा मिलती है जो जीवन-भर हमारी सहायता करेगी। वह शिक्षा यह है: 'यथार्थ और यथार्थ सम्बन्धी हमारी धारणा ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। जब हम सूक्ष्म अध्ययन, निरीक्षण और परीक्षण के पश्चात् अपनी यथार्थ सम्बन्धी धारणा को यथार्थ के समकक्ष बना लेते हैं तभी वह यथार्थ की सही धारणा होती है। व्यवहार के लिए यथार्थ की सही धारणा को यथार्थ से एक रूप माना जा सकता है। किन्तु जब हम ऐसा नहीं करते तब हम यथार्थ की सही धारणा न करके उसके सम्बन्ध में भ्रामक धारणा का ही पोषण करते हैं, और इसप्रकार हम असत्य और भ्रम में फँसे रहते हैं। यह असत्य और भ्रम ही हमारे लिए यथार्थ बन गया होता है जिससे हमारे जीवन पर बड़ा कुप्रभाव पड़ता है।

बँगला में एक कहावत है, 'तुम्हें जंगल का शेर नहीं अपितु तुम्हारे मन का ही शेर खाता है।' अतीत में किए गए पापों से सम्बन्धित चिन्ताओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि हम बाहर के शेरों के द्वारा नहीं अपितु अपने ही मन के शेरों के द्वारा खाए जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी चिन्ताओं की जड़ यथार्थ में न होकर पाप की धारणा में होती है। इसलिए हमें अपनी पापविषयक धारणा की परीक्षा करनी होगी। हमें यह देखना होगा कि वह यथार्थ से कहाँ तक मेल खाती है।

(१) हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि हमारे

द्वारा किए गए पाप या व्यक्तिगत पाप यथार्थ होते हैं, भले ही उनका ज्ञान हमारे मित्रों को न हो। यह कहा जा सकता है कि यहाँ यथार्थ विषयक धारणा यथार्थ के सम-रूप है। और चूँकि प्रत्येक किए गए पाप का फल आवश्यक रूप से मिलता है, अतः हमें उसकी चिन्ता होगी ही।

किन्तु क्या चिन्ता करना आवश्यक है? चिन्ता करना स्वाभाविक हो सकता है पर चिन्ता करना आवश्यक नहीं है। अतीत में किए गए पापों के विषय में चिन्ता करके हम अपनी स्थिति किसी प्रकार सुधार तो नहीं सकते पर उसे अधिक दुःखद अवश्य बना लेते हैं। जीवन भर हम अपनी आत्मा पर अनावश्यक बोझ लादे रहते हैं। इससे हमारे स्नायु-संस्थान, वर्तमान और आने वाले जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु इस बोझ को उतार फेंकना सम्भव है। यह कार्य मन के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है।

हम अपने अतीत के पापों की चिन्ता से निम्नलिखित उपायों से छूट सकते हैं: (अ) हमें व्याकुलतापूर्वक पश्चात्ताप करना चाहिए तथा दीनतापूर्वक प्रभु से क्षमा-याचना करनी चाहिए। (ब) हमें अपनी गलती को न दुहराने का संकल्प कर लेना चाहिए और उसपर दृढ़ रहना चाहिए भले ही कुछ भी क्यों न हो जाय। (स) हमें प्रतिफल के रूप में अपने पापों के फल को भोगने के लिए दृढ़तापूर्वक तत्पर रहना चाहिए तथा इससे जीवन के लिए एक हितकर शिक्षा

ग्रहण कर लेनी चाहिए। यदि इन तीन उपायों का प्रयोग किया जाय तो हमें अपने अतीत के पापों की चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

(२) लोगों के मन में जातीय या राष्ट्रीय पाप की धारणा बड़ी दृढ़ होती है। किसी जाति या राष्ट्र के सदस्य होने के नाते यदि आपको कुछ अधिकार और लाभ उपलब्ध होते हैं तो उससे सम्बद्ध दुःखों और पीड़ाओं को भी आपको ग्रहण करना होगा। यदि आपको पैतृक सम्पत्ति मिलती है तो पैतृक-रोग भी प्राप्त हो सकते हैं। केवल चिन्ता करने से कुछ नहीं मिलता। इस रहस्यमय तथ्य पर आप अपनी जितनी मानसिक शक्ति और समय बरबाद करते हैं उसका विनियोग आप अपने चरित्र और जीवन को दृढ़ बनाने के लिए कर सकते हैं। तब भले ही पाप के फल का विचार आपके मन में उदित हो पर आप एक शक्तिशाली मनुष्य की तरह उसपर से एक छलाँग मारकर निकल सकते हैं। ऐसा भी सम्भव है कि हमें उस विचार का स्पर्श तक न हो।

इसके अतिरिक्त, यदि आप अपने किसी जातीय या राष्ट्रीय पापविशेष के सम्बन्ध में बहुत अधिक चिन्ता करते हैं क्योंकि उसके फल का एक भाग आपको भोगना पड़ेगा तो आप उसका प्रायश्चित व्यक्तिगत रूप से पाप का विरोध करने वाले सत्कर्मों को सम्पन्न करके कर सकते हैं। यह एक ऐसा ठोस कार्य है जो जातीय एवं राष्ट्रीय पाप के फल के आपको मिलने वाले भाग को नष्ट कर

सकना है। एक सामान्य व्यक्ति के नाते आप इससे अधिक या अच्छा कुछ भी नहीं कर सकते।

सिरपर हाथ देकर आने वाले दुःख की चिन्ता करनेकी अपेक्षा दुःख का साहस पूर्वक सामना करने के लिए तत्पर रहना आवश्यक है। जब आप दुःख को सहने के लिए तत्पर रहते हैं तो बहुधा दुःख आपपर प्रभाव नहीं डाल पाता।

(३) जब कोई 'आदिम पाप' की चिन्ता करता है तब हिन्दुओं को आश्चर्य होता है। असल में, आदिम पाप ईसाई चर्च का एक नारा है। फिर भी, जब तक आपके मन में यह विचार रहता है तब तक आप इसकी चिन्ता करते हैं। किन्तु यदि आप इस चिन्ता से छूटना चाहते हैं तो इसका उपाय आपको हिन्दू बता सकते हैं। वह उपाय यह है: वेदान्त में वर्णित आत्मा के देवत्व और अन्त में प्रत्येक आत्मा की मुक्ति के विचार को धारण कर अपने मन से 'आदिम पाप' के विचार को एक झटके में उड़ा दीजिए। तब आपको भी हिन्दुओं के समान 'आदिम पाप' से चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होगी। रूढ़िवादी आपको बताएँगे कि आत्मा का मौलिक देवत्व और फलस्वरूप प्रत्येक आत्मा की मुक्ति की अनिवार्यता – यह सब हिन्दुओं के कतिपय विचारमात्र हैं। मैं कहता हूँ, 'आदिम पाप, का सिद्धान्त भी तो एक विचार मात्र है। अपने हृदय को चिन्ताओं के घुन से बचाने के लिए अच्छे विचार की सहायता से बुरे विचार को निकाल फेंकना एक व्यावहारिक और उपयोगी उपाय है।

आइए, मैं आपको एक कहानी सुनाऊँ। एक शराबी सड़क पर जा रहा था। उसके हाथ में एक जालीदार डब्बा था। एक परिचित व्यक्ति ने उसे रास्ते में रोककर पूछा; "इस डब्बे में तुम क्या ले जा रहे हो?" मतवाले आदमी ने कहा, "इसमें एक नेवला है।" परिचित व्यक्ति ने फिर पूछा, "इसका क्या करोगे?" तब शराबी व्यक्ति बोला, "तुम जानते हो इसका मैं क्या करूँगा? मुझे अभी तो ज्यादा नशा नहीं चढ़ा है पर थोड़ी ही देर में चढ़ जाएगा। और जब मैं पूरे नशे में होता हूँ तो मुझे चारों ओर साँप ही साँप दिखाई देते हैं और मुझे उनसे बहुत डर लगता है। इसलिए मैं अपने बचाव के लिए यह नेवला ले जा रहा हूँ।" तब उस व्यक्ति ने कहा, "तुम्हारा भला हो! ये साँप तो काल्पनिक हैं।" इसपर शराबी ने उत्तर दिया, "तुम ठीक कहते हो, इस डब्बे में एक काल्पनिक नेवला है।" असल में डब्बा खाली था। यदि आपको काल्पनिक साँपों से डर लगता है तो आपको एक काल्पनिक नेवला साथ रखना चाहिए। वह भी आपके लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

किन्तु हिन्दुओं का आत्मा का देवत्व विषयक विचार नेवले के समान काल्पनिक नहीं है अपितु पूरी तरह से यथार्थ है। बहुत से लोगों ने आत्मा को देखा और पाया है।

अतएव, हमारे अतीत के जीवन से सम्बन्धित चिंताओं को निम्नलिखित सरल उपायों से दूर किया जा सकता है व्यक्तिगत पापों से सम्बन्धित हमारी चिन्ताएँ हार्दिक

पश्चात्ताप करने, उसी गलती को पुनः न दुहराने और शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से उनके परिणामों को भोगने के लिए तत्पर रहने से छूट सकती हैं।

जातीय और राष्ट्रीय पाप की चिन्ता से मुक्त होने के लिए चरित्र और जीवन को दृढ़ बनाना चाहिए, व्यक्तिगत प्रायश्चित के रूप में सत्कर्मों का सम्पादन करना चाहिए तथा दुःख को आनन्दपूर्वक सहने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

आदिम पाप की भावना का प्रतिरोध वेदान्त में वर्णित आत्मा के देवत्व और प्रत्येक आत्मा की मुक्ति के विचारों के द्वारा करने से आदिम पाप विषयक चिन्ताओं से बचा जा सकता है।

छः

अब हमें भविष्य से सम्बन्धित चिन्ताओं पर विचार करना चाहिए। हमारी भविष्यविषयक चिन्ताओं की जड़ किसी अनहोनी घटना की आशंका में या जो कुछ हमें उपलब्ध है उसे खो देने के भय में, या हमारी वृद्धावस्था के भय में या हमारी मृत्यु के भय में जमी रहती है।

बहुत से लोग अपने अतीत में जीते हैं और कई लोग अपने भविष्य में जीते हैं। जो अपने अतीत में जीते हैं उन्हें पूरी तरह से जीवित नहीं कहा जा सकता और जो अपने भविष्य में खोए रहते हैं उनका तो एक प्रकार से जन्म ही नहीं हुआ होता।

भविष्य के विषय में आप जितना अधिक चिन्तन करते

हैं उतनी अधिक मात्रा में आप वर्तमान के लिए मर जाते हैं और उतनी ही अधिक मात्रा में आप ईश्वर के विरोधी हो जाते हैं। जब आप वर्तमान के लिए मर जाते हैं तब भविष्य में अनेक भयानक मुद्राएँ बनाकर आने वाले दैत्य को देखने से आप बच नहीं सकते। आप इस राक्षस पर जितना ही अधिक प्रहार करेंगे वह आपको उतना ही अधिक शक्तिशाली दिखेगा। असल में, इस राक्षस पर प्रहार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह आपके द्वारा भविष्य के परदे पर बनाए गए मानसिक चित्र से अधिक नहीं होता। उसमें असलियत तो होती ही नहीं।

यदि आप भविष्य की चिन्ताओं के दैत्य का मुकाबिला नहीं करना चाहते तो आपको सबसे पहले वर्तमान में जीना होगा और सद्धर्म के आलोक में अपने हृदय, मन और मस्तिष्क को सम्पूर्ण रूप से उत्साह और दृढ़ता के साथ सद्यः-वर्तमान में केन्द्रित करना होगा। यदि आप पूरी तरह से वर्तमान में जीने में असमर्थ होते हैं तो आपके लिए भविष्य में दुःखों को भोगना स्वाभाविक है। भविष्य की विपदाएँ उस उपज के समान हैं जिसका बीज स्वयं आपने अपने को वर्तमान से अलग करके बोया है।

मीस्टर एकहार्ट महोदय कहा करते थे, "वर्तमान क्षण के अंतराल में शाश्वतता निहित होती है।" हम लोग वर्तमान क्षण में ही जीते हैं। हमारे अंतिम समय तक का प्रत्येक क्षण वर्तमान क्षण ही होता है। ईश्वर और शाश्वतता तद्रूप हैं। प्रत्येक क्षण के अंतराल में ईश्वर विद्यमान

हैं। अतः जब हम वर्तमान क्षण में पूरी तरह से नहीं जीते तो हम ईश्वर की पूजा भी नहीं करते। ईश्वर की पूजा करने से चूक जाने पर हम केवल ईश्वर की उपेक्षा ही नहीं करते अपितु स्वयं को भी अज्ञान से उत्पन्न भ्रम तथा अनेकानेक विपदाओं में उलझा लेते हैं।

जो व्यक्ति एक ओर स्वयं को ईश्वर का भक्त कहता है और दूसरी ओर भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित होता रहता है, वह झूठा होता है। यदि आप निष्ठापूर्वक यह सोचते हैं कि आप ईश्वर के भक्त हैं और इसके साथ ही आप भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ताएँ भी करते हैं तब तो आपको अपनी भक्ति को अधिक दृढ़ बनाना आवश्यक है। जो व्यक्ति ईश्वर पर पूरी तरह से श्रद्धा रखता है उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं होती। वह चिन्ता क्यों करेगा? क्या उसका समस्त जीवन, भविष्य और सब कुछ ईश्वर के शक्तिशाली हाथों पर निर्भर नहीं है? क्या ईश्वर उसे केवल शुभ ही प्रदान नहीं करेंगे? हाँ, विपदाएँ भले ही आ सकती हैं। पर क्या ये विपदाएँ भी उन्हीं की कृपा का प्रतीक नहीं हैं? भले ही दरिद्रता आ जाय, पर वह तो ईश्वर के द्वारा हमें अपने हृदय के निकट खींचने का साधन होगा। जब ईश्वर हमें अपने से अलग नहीं रखना चाहते तब वे मनुष्य और ईश्वर के बीच बाधा बनकर उपस्थित होने वाली हमारी सभी वस्तुओं को हमसे अलग कर सकते हैं तथा हमें हमारे सभी वैभवों और उपाधियों से मुक्त कर सकते हैं।

हमारी समस्त चिन्ताओं की जड़ हमारा अहं-भाव

है। जैसे-जैसे हमारी श्रद्धा ईश्वर पर बढ़ती जाती है वैसे-वैसे हमारा अहं-भाव क्षीण होने लगता है। जब विश्वास पक्का हो जाता है तब यह अहं-भाव विलीन हो जाता है। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं कि जब अहं-भाव विलीन हो जाता है तब हमारी समस्त चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं। सच्चे भक्त को अज्ञात का भय नहीं होता क्योंकि जो अज्ञात है वह ईश्वर के हाथों में है, और जो कुछ ईश्वर के हाथों में होता है वह कल्याणप्रद ही होता है, वह पूरी तरह से और आवश्यक रूप से हितकर ही होता है। किन्तु भक्त इसकी चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह तो ईश्वर के हाथों में निर्भर है। जिस प्रकार ईश्वर पर हमारी निष्ठा हमारे अज्ञात के भय पर प्रहार करती है उसी प्रकार वह हमारी अर्जित वस्तु के खो जाने के भय को भी नष्ट कर देती है। इसके साथ ही वह हमारी वृद्धावस्था के भय को, हमारी मृत्यु के भय को और उन सभी चिन्ताओं को दूर कर देती है जिसकी जड़ें हमारे अहं-भाव में होती हैं।

इस प्रकार भविष्य की चिन्ताओं को निम्नलिखित दो उपायों के द्वारा दूर किया जा सकता है। पहला उपाय तो यह है कि हमें सद्धर्म के आलोक में वर्तमान में जीना होगा और हृदय, मन और बुद्धि को सम्पूर्ण रूप से उत्साह और दृढ़ता के साथ आसन्न वर्तमान पर केन्द्रित करना होगा। दूसरा यह कि हमें ईश्वर का सच्चा भक्त बनना होगा।

सात

अब हमें अपनी वर्तमानकालिक चिन्ताओं की गम्भीर

समस्या पर विचार करना है। यद्यपि हमारी समस्त चिन्ताओं की केवल दस प्रतिशत चिन्ताएँ ही वर्तमान से सम्बन्धित होती हैं किन्तु इसीका कुप्रभाव हमारी मानसिक प्रशान्ति और आत्मविकास की समस्त सम्भावनाओं पर सबसे अधिक पड़ता है। हमारी वर्तमान से सम्बन्धित चिन्ताओं के अनेक और परस्पर भिन्न कारण होते हैं। किसी भी दो व्यक्तियों की चिन्ताओं का कारण,भले ही वे पति और पत्नी ही क्यों न हों, एक जैसा नहीं हुआ करता। तथापि मनुष्य की चिन्ताओं के विभिन्न कारणों को निम्नलिखित कुछ मूल कारणों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

समस्त स्थितियों में, प्रत्येक व्यक्ति की चिन्ताएँ उसके मलिन विवेक के कारण उत्पन्न होती हैं। हमारा विवेक मलिन तब होता है जब हम (१) सद्धर्म के आदेशों के अनुसार अपने जीवन का नियमन नहीं करते; (२) अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को सम्पन्न करने में असफल हो जाते हैं; (३) अपने जीवन-संघर्ष में पराजित हो जाते हैं; (४) जीवन के वर्धमान प्रयोजन को समझने में असमर्थ होते हैं और आंतरिक रूप से आत्मपूर्णता की ओर बढ़ने में अक्षम हो जाते हैं। चिन्ताओं का जन्म इन निम्नलिखित कारणों से भी होता है —(५) मिथ्या भय, दुराशा और भ्रामक कल्पनाओं से; (६) प्रतिस्पर्द्धापूर्ण अतिरिक्त महत्त्वा-कांक्षा से; (७) अधिक मोह से; (८) जीवन के प्रति अधिक आसक्ति से; (९) संसार के सभी लोगों को प्रसन्न रखने की अविचारपूर्ण इच्छा से; (१०) स्वार्थ को सभी वस्तुओं से ऊपर रखने की व्यग्रता

से; (११) दूसरों के सम्बन्ध में जानने के अर्थहीन कुतूहल से, और दूसरों में दोषों को ढूँढ़ने की आदत से।

यदि उचित उपायों के द्वारा इन कारणों का परिहार कर दिया जाय तो उनसे उत्पन्न होने वाली चिन्ताएँ स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जाएँगी। चिन्तारहित एवं निर्मल जीवन बिताने के लिए हमें कुछ ठोस उपायों को अपनाना होगा।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने अन्तःकरण को सदैव निर्मल रखना है। 'फिलोकेलिया' नामक पुस्तक में, जो चौथी से चौदहवीं शताब्दी तक के प्राच्य ईसाई धर्मोपदेशकों के महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह है, नए धर्मोपदेशक संत साइमन ने अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिए कुछ उपाय सुझाए हैं। उनका कहना है कि 'आज्ञापालन के बिना अन्तःकरण को निर्मल रखना असम्भव है।' किसकी आज्ञा का पालन? हमें ईश्वर के आदेशों का पालन करना चाहिए। प्रत्येक धर्म के कुछ मौलिक आदेश होते हैं। हम किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों किन्तु हमें अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिए अपने धम के आदेशों के अनुसार जीवन-यापन करना चाहिए। असल में, हमारे जीवन को चिन्तारहित बनाने के लिए ही इन आदेशों का निर्माण किया गया था।

संत साइमन का कथन है, 'तुमको ईश्वर के सन्दर्भ में, गुरु के सन्दर्भ में और संसार के अन्य व्यक्तियों एवं वस्तुओं के सन्दर्भ में—इन तीन सन्दर्भों में—अपने अन्तःकरण को निर्मल रखना चाहिये। इन तीन सन्दर्भों

में हमें अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाने का उपाय बताते हुए उनका कथन है कि: (अ) जिन कार्यों से ईश्वर अप्रसन्न होते हैं और जिन कार्यों की ओर उनकी रुचि नहीं होती हम उन कार्यों को नहीं करके ईश्वर के संदर्भ में अपने अन्तःकरण को निर्मल बना सकते हैं। (ब) अपने आध्यात्मिक गुरु के द्वारा बताए गए कार्यों को सम्पन्न करके तथा उनके द्वारा मना किए गए कार्यों को न कर और उनके विवेक के द्वारा अनुशासित होकर हम उनके सन्दर्भ में अपने अन्तःकरण को निर्मल रख सकते हैं। (स) जिन कार्यों से हम स्वयं घृणा करते हैं या जिन्हें हम स्वयं पसंद नहीं करते उन कार्यों को दूसरे व्यक्तियों के प्रति न कर हम उनके सन्दर्भ में अपने अन्तःकरण को निर्मल बना सकते हैं। संसार की अन्य वस्तुओं जैसे भोजन, पेय और कपड़े आदि का सही उपयोग करके हम उनके सन्दर्भ में अपने अन्तःकरण को निर्मल कर सकते हैं।

(२) जब हम अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करने में अक्षम होते हैं तब चिन्ताएँ अनिवार्य रूप से उदित होती हैं। इसलिए हमें अपने भीतर एक उचित कर्त्तव्य-भावना का निर्माण कर लेना चाहिए। परिवार के सदस्य के रूप में परिवार के प्रति, समाज के सदस्य के रूप में समाज के प्रति और मनुष्य होने के नाते मानवता के प्रति हमें अपने कर्त्तव्यों को पूरी तरह से निपटाना चाहिए।

एक बार कन्फ्यूशियस से किसी ने पूछा कि अच्छे व्यक्ति की पहचान क्या है। कन्फ्यूशियस ने कहा—"अच्छा

व्यक्ति न तो चिन्ता करता हैं और न भय।" "क्या केवल चिन्ता और भय न करने वाले व्यक्ति को अच्छा कहा जा सकता है?"–कन्फ्यूशियस से फिर पूछा गया। कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया, "यदि वह आत्म-विश्लेषण करता है और यह जानता है कि उसने उचित कार्य ही किया है तो फिर वह किससे भय करेगा और उसे किसकी चिन्ता होगी?"

"अपना कार्य पूरी लगन से करो और शेष बातों को छोड़ दो"— यह जीवन के लिए सबसे अधिक उपयोगी और व्यावहारिक सुझाव है। यदि आपने अपना कार्य पूरी लगन से किया है तो आपको उसके विषय में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु हमें इसका विश्वास होना चाहिए कि हमने जो कुछ किया हैं पूरी तत्परता से किया है। सभी स्थितियों में प्रत्येक कार्य को, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, पूरी तत्परता से करना और उसके बाद की चिन्ता न करना प्रशान्त और आश्वस्त जीवन का रहस्य है। असल में, यही कर्मयोग का भी रहस्य है।

हममें से कुछ लोगों का यह सामान्य अनुभव है कि अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों की अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा रखने से भी जीवन में चिन्ताओं का उदय होता है। इसलिए हमें धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा के आलोक में अपने कर्त्तव्य और दायित्व की भावना को सही रूप प्रदान करना चाहिए।

(३) जीवन-संघर्ष में पराजित हो जाने से भी चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। अधिक गरीबी और अतिशय सम्पन्नता

दोनों से ही चिन्ताओं का जन्म होता है। गरीब व्यक्ति को अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए कड़ा परिश्रम करना चाहिए। दरिद्र व्यक्ति अपनी स्थिति को आत्मनिग्रह कर, अच्छी आदतों का निर्माण कर और अपनी क्षमता के भीतर व्यय करके क्रमशः बहुत सुधार सकता है। 'इमिटेशन ऑव क्राइस्ट' में संत थामस ए० केम्पिस का कथन है कि "ऐसे आनन्द का तत्काल भोग करने की इच्छा मत करो जिसे बहुत से अन्य लोगों ने अनेक विपदाओं और संघर्षों को झेलने के पश्चात् प्राप्त किया है।"

संस्कृत में एक कहावत है कि कड़े परिश्रम से मुँह चुराने वाले दरिद्र व्यक्ति को और दूसरे जरूरतमन्द लोगों के साथ अपने धन का उपभोग न करने वाले धनी व्यक्ति को उनके दुर्दिन में उनकी चिन्ताओं और दुःखों का कोई साझीदार नहीं मिलता। फिर वे अपनी गर्दन में पत्थर बाँधकर समुद्र में ही क्यों न डूब जाएँ। दरिद्र व्यक्ति को अपनी चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए केवल अपने भाग्य को दोष देते बैठ नहीं जाना चाहिए अपितु धीरज और सहिष्णुता के साथ कठोर परिश्रम करना चाहिए। यदि धनी व्यक्ति अपनी चिन्ताओं से मुक्त होना चाहता है तो उसे अपने दुराचारों को त्याग देना चाहिए और उदारतापूर्वक दान करते हुए अन्य व्यक्तियों की निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए।

(४) विचारवान् व्यक्ति के मन में जीवन की सफलता एक नयी चिन्ता को उत्पन्न करती है। वह स्वयं से प्रश्न

करता है : 'इससे क्या होगा ? मैंने धन कमाया है, परिवार की स्थिति सुधारी है और समाज में स्थान बना लिया है। पर इससे क्या होगा ? ये सब मुझे कहाँ ले जाएँगे ?' उसे लगता है कि प्रत्येक सफलता के अन्तराल में जल-जल कर बुझने वाले प्रकाश की तरह एक खोखलापन चमक रहा है—'फिर क्या' ? 'फिर क्या' ? और वह चिन्तित हो उठता है—नहीं जानता किसलिए।

जीवन के विविध सोपानों में किसी वर्धमान प्रयोजन को न देख पाने के कारण ही उसे ऐसी अनुभूति होती है। लौकिक सफलता आवश्यक है। किन्तु व्यक्ति की ऊँची आवश्यकताएँ भी हैं। वह मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी है। यदि हम उम्र में बढ़ने के साथ-साथ आध्यात्मिक रूप से अपना बिकास नहीं करते तो भले ही हमारा जीवन वैभवपूर्ण हो किन्तु हमारी वृद्धावस्था उदासीनता से भर जाएगी।

आध्यात्मिक साधनाओं के सहारे आत्मपूर्णता की ओर आन्तरिक रूप से विकास करने पर हम ऐसी चिन्ता से छूट सकते हैं। इसके लिए अन्य कोई समाधान नहीं है। जो बढ़ती हुई उम्र की उदासीनता से बचना चाहते हैं, उन्हें अपने योग्य आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्राप्त करने में एक दिन का भी बिलम्ब नहीं करना चाहिए। आप जितनी कम उम्र में आध्यात्मिक जीवन बिताना शुरू करेंगे आपको उतना ही अधिक लाभ होगा।

(५) जिसे आप मिथ्या कहते हैं, हो सकता है वह पूरी तरह से अस्तित्वहीन न हो। स्वप्न देखते समय मनुष्य के

सपने सच्चे होते हैं, भले ही वे किसी दूसरे व्यक्ति के लिए सत्य न हों। सपने तो उसी व्यक्ति की जाग्रतावस्था में भी सत्य नहीं होते। इसलिए यदि कोई व्यक्ति सपने में भयानक कष्ट पाता हो तो उसे जगाने का उपाय करना चाहिए।

हमारी बहुत सी चिन्ताओं का जन्म मिथ्या भय, दुराशा और गलत कल्पनाओं से होता है और ये निराधार चिन्ताएँ हमारे लिए यथार्थ विपदाएँ खड़ी कर देती हैं। हम अपनी मानसिक शक्ति का जो दुरुपयोग करते हैं उसी में हमारे हृदय को टूक-टूक कर देनेवाली चिन्ताओं की जड़ें जमती हैं। यह सम्भव है कि बहुत से व्यक्ति इन चिन्ताओं से बहुत समय तक कष्ट पाते रहे हों और यह न जान पाये हों कि उनके ये दुःख कितने निराधार हैं। प्रायः इस प्रकार के व्यक्ति की सहायता उसके मित्र के द्वारा कुछ कठिनाई से ही की जा सकती है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का दुःखी व्यक्ति सामान्यतः अपनी चिन्ताओं को बिलकुल सत्य समझता है। अतः यदि ऐसे व्यक्ति के सपनों को तोड़ दिया जाय तो उसकी सभी चिन्ताएँ समाप्त हो जाएँगी।

कभी-कभी व्यक्ति अपनी चिन्ताओं को कल्पनाजन्य तो समझता है किन्तु चिन्ता करना नहीं छोड़ता। यहाँ उसे अपने मन से संघर्ष करना होगा। यदि वह 'फिला-केलिया' में वर्णित उपाय का प्रयोग करे तो उसके सफल होने की सम्भावना अधिक है। 'फिलाकेलिया' के २३४ वें पृष्ठ में लिखा है कि "व्यक्ति को अपनी बुरी कल्पनाओं

को उत्कृष्ट कल्पनाओं के द्वारा नष्ट कर देना चाहिए तथा डेनियल और गोलिएथ के समान शत्रु को उसके अपने ही हथियार से मार डालना चाहिए।"

श्रीरामकृष्ण संघ के वरिष्ठ आध्यात्मिक पुरोधा स्वामी विरजानन्द जी ने 'परमार्थ प्रसंग' नामक ग्रन्थ में एक बहुत उपयोगी सुझाव दिया है। वे कहते हैं—जब भी तुम्हारे मन में दुर्बलता और उदासीनता की अनुभूति हो तो तुम्हें इस सूत्र का पारायण करना चाहिए: 'मैं शुद्ध, बुद्ध आत्मस्वरूप हूँ और आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हूँ। मैं साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हूँ। कोई दुःख मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। मैं सत्-चित्-आनन्द हूँ। ॐ तत् सत् ॐ।'

हताशा होने के समय इस सूत्र के अर्थ को समझते हुए इसका पारायण करने से हम जीवन के उच्चतर आध्यात्मिक सत्य पर आधारित अच्छी कल्पना के द्वारा बुरी कल्पनाओं का सामना कर सकते हैं।

(६) जो लोग अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी होते हैं उन्हें उनकी चिन्ताओं से तब तक मुक्त नहीं किया जा सकता जब तक वे असफलता के दुःख को नहीं भोग लेते। जब व्यक्ति यह जान लेता है कि सभी व्यक्ति सभी प्रकार के कार्यों में पारंगत नहीं होते और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सीमाओं के भीतर रहकर कार्य करना पड़ता है तभी वह प्रतियोगिताजन्य महत्त्वाकांक्षा से उत्पन्न चिन्ताओं से छुटकारा पा सकता है।

(७) हममें से कुछ व्यक्ति आनन्द प्राप्त करने के लिए

स्वयं को स्वेच्छापूर्वक अनेक वस्तुओं में उलझा लेते हैं। किन्तु यही तो हमारी चिन्ता और अशान्ति का जनक है। बहुधा लोग इस तथ्य को बड़ी कठिनाई से समझ पाते हैं कि हम अपनी चिन्ताओं को बिना अनासक्ति का अभ्यास किए समूल नष्ट नहीं कर सकते। व्यवहारिक रूप से अनासक्ति का अभ्यास जीवन की अनेक चिन्ताओं को नष्ट करने का अमोघ अस्त्र है। संत थामस ए. केम्पिस का कथन है, '....जहाँ भी रहो, जिस स्थिति में रहो, जो भी कार्य करो, इस बातकी बड़ी सावधानी रखो कि तुम भीतर से असंग और अपने आप के स्वामी बने रहते हो।... सभी परिस्थितियों में दृढ़तापूर्वक खड़े रहो।

(८) विशेषकर आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के मन में जीवन के प्रलोभन अनेक चिन्ताओं को उत्पन्न करते हैं। ये प्रलोभन वास्तविकता पर टिके होते हैं तथा हमें व्यक्ति-गत रूप से प्रभावित करते हैं। संसार के प्रलोभनों को आप नष्ट तो नहीं कर सकते किन्तु स्वयं को आध्यात्मिक रूप से इतना शक्तिशाली अवश्य बना सकते हैं जिससे वाह्य प्रलोभनों का आपपर कोई प्रभाव न पड़ सके। संतों का कथन है कि इन प्रलोभनों के माध्यम से ईश्वर अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं। यद्यपि यह बात महात्माओं के विषय में कही गई है तथापि आध्यात्मिक पथ पर प्रवेश करने वाले व्यक्तियों को स्वयं को प्रलोभन में न उलझाकर उनसे दूर रहना आवश्यक है। उन्हें अपने विवेक को प्रबुद्ध रखते हुए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए - अनेक संतों का

जीवन इस बात की पुष्टि करता है कि ईश्वर का नामोच्चार हमारे मन से प्रलोभनों के आकर्षण को नष्ट कर देता है।

(९) जो लोग। संसार के सभी व्यक्तियों को प्रसन्न रखना चाहते हैं उनकी चिन्ताएँ सरलता से नहीं छूटतीं। इसप्रकार की व्यग्रता अच्छाई से नहीं अपितु छिपे हुए अहंकार से उत्पन्न होती है। आप संसार से प्रशंसा प्राप्त करना चाहते हैं इसलिए आप सबको प्रसन्न रखना चाहते हैं। यदि आप बार-बार इसी का चिन्तन करते रहें कि दूसरे व्यक्ति आपके सम्बन्ध में क्या कहते होंगे, तो आप पूरी तरह से मानसिक रोगी बन जाएँगे।

सबसे पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि सबको खुश रखना असम्भव भी है और अनावश्यक भी। संस्कृत की एक सूक्ति है कि 'प्रभु के प्रसन्न होनेपर सारा संसार प्रसन्न हो जाता है।' अतः हमें अपना आचरण इस प्रकार बना लेना होगा जिससे प्रभु प्रसन्न हो सकें, हमारा हृदय निश्छल हो और हम अपने कार्य को पूरी तत्परता के साथ सम्पन्न करके उसके फल के सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाएँ।

(१०) स्वार्थवृत्ति और चिन्ताएँ सदैव साथ साथ-चला करती हैं। अतः चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए स्वार्थवृत्ति का त्याग करना आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है, "स्वार्थ अनैतिकता है" निःस्वार्थ नैतिकता है" वे आगे कहते हैं, "निःस्वार्थी बनने से अधिक लाभ होता है किंतु लोगों में निःस्वार्थी बनने के लायक धैर्य नहीं होता।" स्वयं के सम्बन्ध में सोचते रहने से बड़ा अभिशाप और

कुछ भी नहीं है। दूसरों के सम्बन्ध में सोचना प्रारम्भ कर हम इससे मुक्त हो सकते हैं। हृदय की संकीर्णता से अनेक प्रकार की चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। हृदय का विस्तार ही इन चिन्ताओं का निदान है।

(११) जो सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होना चाहते हैं उन्हें न तो दूसरों के मामले में दिलचस्पी लेनी चाहिए और न दूसरों में दोषों को ढूँढ़ने की आदत ही बनानी चाहिए। इन आदतों के द्वारा हम उन दोषों में लिप्त हो जाते हैं जिन्हें हम दूसरों में खोजना चाहते हैं और इन्हीं दोषों के कारण अनेकानेक चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः इन दो प्रकार की आदतों से अपने को बड़ी सावधानी से बचाना चाहिए।

संक्षेप में, हमारे वर्तमान जीवन की चिन्ताओं का निदान निम्नप्रकार से किया जासकता है : (१) हमें अपने अन्तः करण को निर्मल बनाना चाहिए। (२) हमें अपना कार्य पूरी कुशलता के साथ सम्पन्न करके उसके बाद की बातों को छोड़देना चहिए। इन दो विधियों के अंतर्गत अबतक बताए गए समस्त उपायों का समावेश हो जाता है।

आठ

हम सब यह तो जानते हैं कि यदि हमें एक सप्ताह तक अपने घर का कूड़ा-कचरा बाहर न फेंकने दिया जाय तो हम कैसी असह्य स्थिति में पड़ जाएँगे, किन्तु हममें से बहुत से लोग यह नहीं जानते कि यदि हम अपने मन की

मलिनता को साफ न करें तो हमारा क्या होगा। हममें से बहुत से लोग अपने मन की मलिनता को साफ करने का ढंग ही नहीं जानते जिसके इकट्ठा हो जाने से मानसिक व्याधियाँ बढ़ जाती हैं।

हमारी समस्त चिन्ताओं की जड़ हमारे स्वयं के मन की मलिनता में होती है। जब तक हम अपने मन की मलिनता को पूरी तरह से साफ नहीं करते तब तक चिन्ताओं से मुक्त भी नहीं हो सकते। इसलिए हमें उचित उपायों को अपनाकर इस मलिनता को निकाल फेंकने का उपक्रम करना चाहिए।

नियमितरूप से ईश्वर की प्रार्थना करने से, उनके नाम का जप करने से और उनका ध्यान करने से मन की मलिनता तो नष्ट होती ही है किन्तु इसके साथ पलने वाली चिन्ताओं का क्षय भी होता है। आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही सभी समय के लिए सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। उसे ही सच्चे स्नेह, सच्चे आनन्द और सच्ची शान्ति की पहिचान होती है। यह सब समझकर हमें अध्यवसाय एवं परिश्रम के साथ अपने यथार्थ कल्याण को प्राप्ति के लिए जुट जाना चाहिए।

— 'वेदान्त केसरी' से साभार।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी के संस्मरण

ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी अम्बिकानन्द जी महाराज,
रामकृष्ण मिशन ।

[रामकृष्ण मठ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी, 'महाराज' के नाम से परिचित हैं। वे श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र थे। वे सदैव दैवी भावभूमिका में अवस्थित रहते थे, तथापि उनके कार्यकलाप पूरी तरह से मानवोचित होते थे। उनका जन्म १८६३ ई० में हुआ था। वे रामकृष्ण मठ और मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। 'विवेक-ज्योति' के पिछले अंक में हमने उनके जीवन पर एक लेख प्रकाशित किया है। इस अंक में लीजिए उनके संस्मरण, जो स्वामी अम्बिकानन्द द्वारा लिखे गये हैं। स्वामी अम्बिकानन्द को अपने अत्यन्त शैशव में श्रीरामकृष्ण देव के आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था। बाद में उन्होंने महाराज से दीक्षा प्राप्त की। वे एक प्रतिभाशाली संगीतज्ञ थे और आनुष्ठानिक क्रिया-कलापों के सूक्ष्म ज्ञाता थे। एक दिन जब वे पूजा कर रहे थे, तो महाराज जो उनके बाजू से ही बैठे हुए थे उनकी पूजा देखकर समाधि में चले गये। प्रस्तुत संस्मरण को स्वामी अम्बिकानन्द ने जनवरी १९५४ में अपनी मृत्यु के कुछ पहले ही लिखाया था।]

मेरे माता-पिता श्रीरामकृष्ण के भक्त थे और बहुधा उनके दर्शन करने दक्षिणेश्वर जाया करते थे। जब मेरी माँ गर्भवती थीं तो उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि यदि मेरे पुत्र होगा तो उसे श्रीरामकृष्ण देव की सेवा में अर्पित कर दूँगी। भगवान् की कृपा से मैं उनका पुत्र होकर जन्मा। माताजी ने अपने वचन की रक्षा का संकल्प लिया। एक दिन

जब मैं कुछ ही सप्ताह का रहा हूँगा, मेरी माता मुझे चादर में अच्छी तरह लपेट कर दक्षिणेश्वर ले गयीं। पिताजी भी साथ गये। श्रीरामकृष्ण दैवी भावमें विभोर हुए अकेले खड़े थे। ज्योंही उन्होंने मेरे माता-पिता को देखा, वे मेरी माता को सम्बोधित कर बोले,"कहो, मेरे लिए क्या ले आयीं ?" माताने मुझे श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में लिटा दिया और बोलीं,।"आपके लिए यह भेंट ले आयी हूँ।" श्रीरामकृष्ण मेरी ओर कुछ क्षणोंतक देखते रहे और बोले,"वाह! कैसा सुन्दर बच्चा है! इसे मुझे भेंट कर रही हो ? बहुत अच्छा!" ऐसा कहकर उन्होंने मुझे अपनी गोद में उठा लिया और आशीर्वाद प्रदान करते हुए अपनी दाहिनी हथेली मेरे सिर पर रख दी। तदनन्तर मुझे माता के हाथों में वापस करते हुए बोले, "बच्चे की सावधानी लो, पर जान लो कि अब यह मेरा है। समय आने पर मैं इसे वापस ले लूँगा।" वर्षों बाद जब मैं रामकृष्ण मठ में चला आया, तो सबसे अधिक आनन्द मेरी माता को ही हुआ, क्योंकि उन्हें ऐसा लगा कि श्रीरामकृष्ण ने मुझे स्वीकार कर लिया है। (तब श्रीरामकृष्ण का लीलावसान हो चुका था।)

किशोर के रूपमें मैं माता-पिता के साथ आलम-बाजार मठ में आया-जाया करता था। बेलुड़ मठ की स्थापना तब नहीं हुई थी। उस समय वहाँ स्वामी ब्रह्मानन्द,स्वामी रामकृष्णानन्द, स्वामी शिवानन्द,स्वामी तुरीयानन्द और स्वामी अद्वैतानन्द रहते थे। कभी-कभी मैं मठ में कई दिनों के लिए जाता था। उस समय मुझे ऐसा लगता था कि महाराज

बड़े कठोर और गम्भीर स्वभाव के हैं,इसलिए उनके सामने में आने से बचता रहता था। स्वामी तुरीयानन्द मुझ पर स्नेह करते थे और इसलिए मैं उनके पास निःसंकोच व्यवहार करता था। जब मैं मठ में रातें बिताता तो स्वामी तुरीयानन्द के ही कमरे में सोया करता। वे मध्यरात्रि में उठ जाते और मुझे भी उस समय ध्यान के लिए उठा देते।

स्वामी विवेकानन्द के देहावसान के बाद महाराज और स्वामी तुरीयानन्द वृन्दावन चले गये और तपस्या में डूब गये। कुछ ही समय पश्चात् मैं भी अपने पिता के साथ वृन्दावन चला गया। जब कभी मेरे पिता इन संन्यासियों के दर्शन करने जाते तो मैं भी साथ चला जाता। चूँकि मैं स्वामी तुरीयानन्द से घनिष्ठ रूप से परिचित था इसलिए मैं अपना अधिक समय उन्हीं की संगति में बिताया करता था। महाराज तुरीयानन्दजी के बाजू के कमरे में रहते थे। जब भी मैं स्वामी तुरीयानन्दजी से मिलने जाता, पहले उन्हें दण्डवत प्रणाम करता और फिर महाराज के कमरे का दरवाजा धीरे से खोलकर दरवाजे पर से ही महाराज को प्रणाम करता। उनकी उपस्थिति में मैं घबड़ा जाता, इसीलिए मैं उनके कमरे में नहीं जाता था, न ही चरण छूकर प्रणाम करता था। स्वामी तुरीयानन्द ने एक दिन मेरी यह मनोदशा भाँप ली। वे बोले, "यह क्या? अन्दर जाओ, महाराज को दण्डवत करो, उनके पावन चरणों का स्पर्श करो।" धड़कते हुए हृदय से मैं कमरे के अंदर गया; जैसा मुझे आदेश दिया गया था

उसका पालन किया और महाराज के सामने चुपचाप खड़ा रहा। वे मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देखते हुए स्नेह भरे स्वर में बोले, "बेटा, जरा मेरे पैर तो मल दो।" और ऐसा कहकर वे लेट गए। मैं उनके पैर मलने लगा। तब भी घबड़ाहट बनी ही हुई थी। महाराज ने तुरत यह भाँप लिया और बोले, "घबड़ाओ नहीं, बेटा।" उन्होंने मेरी पीठ का स्पर्श किया। उनके स्पर्श करते ही मुझमें एक आमूल परिवर्तन आ गया। मुझे ऐसा लगा कि मेरे शरीर को सारी ताकत खत्म हो गई है और मैं असहाय-सा उनके चरणों पर पड़ा रहा। कुछ क्षण बाद महाराज विनोद करते हुए बोले, "अरे, तुमने तो मालिश करने के बदले मेरे पैरों को तकिया ही बना लिया है!" मेरा हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठा। मैं उठ बैठा और बोला, "आपने मुझे कुछ कर दिया है।" और अपने आनन्द को भीतर समा न सकने के कारण मैं हँसने लगा। मेरा सारा भय काफूर हो गया और पहलीबार मुझे महाराज से सतत निःसृत होने वाले ईश्वरीय प्रेम का आस्वादन प्राप्त हुआ।

उस दिन से मुझे महाराज के लिए इतना आकर्षण अनुभव होने लगा कि उन्हें छोड़ने को इच्छा न होती थी। जब मैं पिता के साथ घर वापस चला जाता तो मैं निरन्तर यही सोचा करता कि फिर से कितनी जल्दी मैं उनके दर्शन पा सकूँगा। बात बिलकुल उलट गई थी। अब तो जब मैं मठ जाता, स्वामी तुरीयानन्द को प्रणाम करके मैं तुरत महाराज के पास चला जाता और जब तक सम्भव होता वहीं बैठा

रहता। मेरा यह आचरण देख एक दिन महाराज हँसी करते हुए स्वामी तुरीयानन्द से बोले, "भाई तुम अपना चेला गँवा रहे हो।" तुरीयानन्दजी खुलकर हँसते हुए बोले, "इसी के लिए तो मैं अभी तक प्रार्थना कर रहा था।"

एक दिन वृंदावन में महाराज के साथ मैं राधारमण मंदिर गया। वहाँ संगीत के कुशल जानकार रोज प्रार्थना-मंडप में इकट्ठा होते हैं और भक्तिपूर्ण भजन गाकर विग्रह की पूजा करते हैं। महाराज उन संगीतज्ञों से मेरा परिचय कराते हुए बोले, "इस लड़के को भगवान के भजन प्रिय हैं।" यह सुनकर वे लोग प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझसे गाने के लिए कहा और तबले और मजीरे पर मेरी संगत की। सभीने मेरा गाना पसंद किया। एक पुजारी महाराज के लिये मिठाइयों से भरा पिटारा ले आये और बोले, "मैं पिटारे को आपकी कुटिया में भेज दूँगा।" महाराज प्रसन्न दृष्टि से मेरी ओर देखकर बोले, "देखा, तुम्हारे गाने के कारण कैसा सुन्दर उपहार मिला है!"

स्वामी प्रेमानन्द के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर महाराज बेलुड़ मठ के लिए रवाना हो गये। मैं भी उनके साथ चला पिताजी भी साथ हो लिये। रास्ते में महाराज एक दिन के लिये इलाहाबाद रुकने वाले थे जिससे वे अपने गुरु भाई स्वामी विज्ञानानन्द से मिल सकें। पर जब हम इलाहाबाद पहुँचे, महाराज ने माता विन्ध्येश्वरी देवी के दर्शन की इच्छा प्रकट की। विन्ध्याचल में योगीन्द्र सेन नामक एक भक्त रहते थे। उन्हें चिट्ठी लिखकर पूछा गया कि क्या वहाँ

तीन दिन रहने की सुविधा हो सकती है। उत्तर में योगीन्द्र सेन ने अतिथि रूप में आने का हमें आग्रहपूर्ण निमंत्रण प्रेषित किया। एक सुबह हम लोग विन्ध्याचल जा पहुँचे। उस समय महाराज कठोर जीवन-यापन कर रहे थे। अतः उन्होंने हमारे साथ भोजन नहीं किया। दिन भर के लिये उन्होंने दूध के साथ थोड़ा चावल ले लिया।

पहली रात महाराज, मेरे पिता,हमारे गृहस्वामी और मैं सबके सब एक कमरे में सोये। सम्भवतः रात आधी बीत चुकी थी जब मुझे किसी के कोमल स्पर्श का अनुभव हुआ। मैं जाग उठा। मैंने देखा कि महाराज कपड़े पहन-कर तैयार हैं और उन्होंने एक मोटे कम्बल से अपने को ढँक लिया है। वे मुझसे बोले,"उठो, गरम कपड़े पहन लो और चलो मेरे साथ।" बिना किसी हिचक के मैंने आदेश का पालन किया। मैंने यह भी न पूछा कि उस मध्य रात्रि में हम लोग कहाँ जा रहे हैं। महाराज ने एक हाथ में लालटेन ले ली और दूसरे में लाठी तथा मुझे अपने पीछे-पीछे आने के लिये कहा। हम बाहर आये। वह अमावस की रात थी। चारों ओर निबिड़ अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता ऊँचा-नीचा था। यह देखकर कि मैं लड़खड़ाते हुए चल रहा हूँ, महाराज ने लालटेन मुझे दे दी और मेरा हाथ पकड़ लिया। तब मैंने पूछा, "हम लोग जा कहाँ रहे हैं?" वे उत्तर में बोले, "जगन्माता के दर्शन करने।"

जब हम मंदिर के अहाते में पहुँचे तो देखा, भक्तों से सारी जगह भर गई है। कुछ लोग माला फेर रहे थे और

कुछ दूसरे जगन्माता का स्तुतिगान कर रहे थे। वातावरण गहरी आध्यात्मिकता से भर उठा था। मन्दिर के पट अभी भी बन्द थे। पुजारी विशेष पर्व के लिये माता की मूर्ति का शृंगार कर रहे थे। जब पट खुले तो यात्री खड़े हो गये और धीरे-धीरे माता के दर्शन करने आगे बढ़े। इस बीच पुजारियों की दृष्टि महाराज पर पड़ी। उनका पावन चेहरा देखकर और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन लोगों ने यात्रियों को आगे बढ़ने से रोका और महाराज को पहले अन्दर जाने दिया। महाराज तब भी मेरे हाथ को पकड़े हुए थे और मैं उनके पीछे चल रहा था। जब महाराज जगन्माता की मूर्ति के सामने खड़े हुए तो बोल उठे, "अहा! क्या ही सुन्दर है! क्या ही सुन्दर है!!" दूसरे ही क्षण उन्हें भावावेश हो आया। मंदिर में दिव्य शान्ति छा गयी। पुजारी और यात्री आश्चर्यचकित होकर महाराज के ईश्वरीय भावावेश को देखने लगे। कुछ समय बाद, भावावेश की ही अवस्था में महाराज ने मुझसे जगन्माता का एक गीत गाने के लिये कहा। गीत सुनते-सुनते उनकी आँखों के बाहरी कोनों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। वह एक दैवी दृश्य था। महाराज ने मुझसे एक दूसरा गीत गाने के लिए कहा। गीत समाप्त होने पर हम लोगों ने जगन्माता के सामने साष्टांग प्रणिपात किया और बाहर आँगन में चले आये। महाराज एक कोने में बैठकर जप करने लगे और मुझसे भी बैठने के लिये कहा। मैं बोला, "मैं क्या करूँगा?" महाराज उत्तर देते हुए बोले,

"जगन्माता की उपस्थिति का अनुभव करो। बाद में तुम्हें उपदेश दूँगा।" हम लोग कुछ देर और रुके और पौ फटने के पहले ही योगीन्द्र सेन के निवास स्थान पर पहुँच गये।

विन्ध्याचल के समीप एक पर्वत के पदप्रान्त में एक गुफा-मन्दिर है। एक दिन कुछ अन्य भक्तों के साथ हम लोग पिकनिक के लिये उसी ओर गये। इधर भक्तगण तरकारी पकाने और भोजन तैयार करने में लगे हुये थे और उधर महाराज ने मुझे अपने पीछे आने को कहा। हम पहाड़ पर चढ़ने लगे और गुफा-मन्दिर के दरवाजे पर आ पहुँचे। भीतर गहरा अंधकार था। हमने गुफा में प्रवेश किया और धीरे धीरे आगे बढ़ते हुए मूर्ति के समीप आये। वह स्थान बड़ा शान्त था, चिड़िया की चहक तक वहाँ सुनाई नहीं देती थी। महाराज जगन्माता की मूर्ति के बाजू से बैठे और मैं उनके समीप बैठ गया। कुछ समय बाद उन्होंने मुझसे जगदम्बा के गीत गाने के लिए कहा। गीत सुनते-सुनते पहले मंदिर की भाँति महाराज यहाँ पर भी भावाविष्ट हो गये। पहले उनकी देह में तनिक कम्पन हुआ, फिर उन्हें रोमांच हो आया और आनन्द के आँसू उनके गालों पर ढुलकने लगे। बाद में वे एकदम निश्चल हो गये। वे पूरी तरह से संज्ञाहीन हो गये। मैं घबड़ाया नहीं, क्योंकि मैंने सुना था कि श्रीरामकृष्ण इसी प्रकार समाधि में चले जाया करते थे। पर हाँ, उस गुफा में मुझे बड़ा अकेलापन महसूस हो रहा था। फिर अँधेरे में मुझे भूत का भी डर लग रहा था। कुछ समय पश्चात् महाराज धीरे-

धीरे मन की सामान्य भूमिका पर लौटे और हमलोग गुफा के बाहर आ गए। मैंने सोचा था कि अब हम पिकनिक की जगह वापस चले चलेंगे किन्तु महाराज पहाड़ के और भी ऊपर चढ़ने लगे। मैं पीछे-पीछे चला। हम चोटी पर पहुँचे। महाराज एक चट्टान पर योगमुद्रा में बैठ गये और मुझसे भी वैसा करने के लिये कहा। बैठे-बैठे मैं मन ही मन विचार करने लगा, "महाराज ने मुझे यहाँ बैठने के लिये तो कह दिया पर यह नहीं बताया कि मुझे क्या करना चाहिये। मैं उनके पास गया और पूछा कि ध्यान किस पर करूँ और कैसे करूँ। उनका उत्तर था, "तुम्हें भगवान् का जो भी पहलू प्रिय हो उसपर ध्यान करो।" मैंने पुनः पूछा, "क्या मैं··· पर ध्यान लगा सकता हूँ?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ करो।"

प्रसन्न होकर मैं भी एक चट्टान पर बैठ गया और ध्यान करने लगा। पर तब मेरी उम्र बहुत छोटी थी। मैं पाँच ही मिनट में चंचल हो उठा। जिस चट्टान पर मैं बैठा था उसी के समीप एक छोटा सा झरना बह रहा था। मैं उठा और पहाड़पर फूले हुये सुन्दर पुष्पों को इकट्ठा करने लगा। उनकी एक अपनी सुगंध थी – धूप और चन्दन की मिली-जुली गंध। मैं उनकी मोहक गंध का आनन्द ले ही रहा था कि महाराज ने अपनी जगह से मुझे देख लिया और चिल्ला पड़े, "अरे मत सूँघो, वे जंगली फूल हैं; हो सकता है कि वे तुम्हारे माफ़िक न हों।" मैं महाराज के पास कुछ फूल ले आया और उन्हें सूँघने के लिये कहा। उन्होंने वैसा किया और प्रसन्न हुए। फिर बोले, "जगन्माता की पूजा के लिये कुछ ऐसे फूल चुन

लाओ।" मैंने कुछ और चुन लिये और पिकनिक की जगह पर वापस चले आये। भोजन तैयार था और हम भी भोजन के लिये तैयार थे। महाराज ने मुझसे दो-एक गीत गाने के लिये कहा और उसके बाद हमारा भोज प्रारम्भ हुआ।

एक दूसरे दिन हम लोग दूसरी ही दिशा से पहाड़ पर चढ़े। जब हम चोटी पर पहुँचे तब सूरज डूब रहा था। महाराज ने मुझसे एक बंगला गीत गाने को कहा, जिसका भावार्थ निम्नलिखित है:—

दिन चले गए, ओ मेरे मन,
सांसारिकता के सागर को
पार करने के लिए तुमने क्या उपाय किया है?
जीवन का सूर्य डूबने ही वाला है।
यद्यपि तुम इसे डूबते हुये देख रहे हो,
किन्तु इस पर ध्यान नहीं देते।
नश्वर जगती की माया से मोहित होकर,
तुम अमृत के भाण्डार को भुला बैठे हो।

सुनते-सुनते महाराज ध्यान में तन्मय हो गये। गीत समाप्त होने के पश्चात् वे कुछ समय तक उसी प्रकार बैठे रहे। अंधकार उतर रहा था। हम लोग भी वापस लौट गये।

इस प्रकार विन्ध्याचल में तीन दिन रहने के बदले हम लोगों ने पूरे इक्कीस दिन वहाँ बिताये। तत्पश्चात् महाराज के साथ बेलुड़ मठ लौट आये।

— 'वेदान्त एंड दि वेस्ट; से साभार।

स्वामी प्रेमानन्द

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा

एक बार श्रीरामकृष्णदेव ने भाव-समाधि के क्षणों में अलौकिक गुण और सौन्दर्य से युक्त देवी का दर्शन किया। उन्होंने देखा कि सौन्दर्यमण्डित देवी के गले में एक मणिमय हार जगमगा रहा है। कालान्तर में जब उन्होंने स्वामी प्रेमानन्द को पहली बार देखा था तब उन्हें उनमें उसी देवी की अनुभूति हुई थी। स्वामी प्रेमानन्द का पूर्व नाम बाबूराम था। आँटपुर नामक हुगली जिले के गाँव में एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में १० दिसम्बर सन् १८६१ को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता श्रीयुत् ताराप्रसन्न घोष और उनकी माता श्रीमती मातंगिनी दासी बड़े ही भगवद्-भक्त थे तथा उनके घर में प्रतिदिन नियमपूर्वक श्रीलक्ष्मी-नारायण के विग्रह की पूजा होती थी। बाबूराम की बड़ी बहिन कृष्णभाविनी का विवाह कलकत्ते के श्रीयुत् बलराम बोस के साथ हुआ था। बलराम बोस श्रीरामकृष्णदेव के बड़े भक्त थे तथा वे अपनी पत्नी और सास के साथ श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने जाया करते थे।

बालक बाबूराम का पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ था। उनमें आध्यात्मिकता की ओर नैसर्गिक रुझान था। बाल्यावस्था से ही उन्हें विवाह के नाम से अरुचि थी। यदि कोई परिहास में भी उनके विवाह की बातें करता

तो वे अत्यन्त व्याकुल होकर कह उठते, "नहीं, नहीं, मेरा विवाह मत करो। इससे तो मैं मर जाऊँगा।" जब वे आठ वर्ष के थे तभी से वे संन्यासी के जीवन को अपना आदर्श समझते थे। उनकी बड़ी आकांक्षा थी कि वे एक समवय संन्यासी के साथ संन्यासी का जीवन बिताएँ और एकान्त स्थल में कुटिया बनाकर तपस्या करें। कालान्तर में श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से उनकी यह इच्छा साकार हो गई थी।

गाँव की पढ़ाई समाप्त कर लेने पर बाबूराम को आगे की पढ़ाई करने के लिये कलकत्ता भेजा गया। वहाँ कुछ दिन तो वे आर्यन स्कूल में पढ़ते रहे, फिर बाद में मेट्रोपोलिटन स्कूल में पढ़ने लगे। मेट्रोपोलिटन स्कूल में श्री महेन्द्रनाथ गुप्त प्रधानाध्यापक थे। यहीं बाबूराम की ही कक्षा में राखाल भी पढ़ा करते थे। बाबूराम और राखाल परस्पर आकृष्ट हो गये और शीघ्र ही उन दोनों में घनिष्ठता हो गई।

बाबूराम ने श्रीरामकृष्णदेव को सबसे पहले कलकत्ते के जोरासन्को नामक मुहल्ले में देखा था। वहाँ श्रीरामकृष्णदेव श्रीमद्भागवत सुनने आये थे। किन्तु तब बाबूराम श्रीरामकृष्णदेव से परिचित नहीं थे। एक दिन उनके बड़े भाई ने उनको बताया कि दक्षिणेश्वर में एक पहुँचे हुए साधु रहते हैं जो श्री गौरांग महाप्रभु के समान ईश्वर के नामोच्चार मात्र से समाधिस्थ हो जाते हैं। जब बाबूराम ने श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में सुना तो उनके दर्शन के लिये वे आतुर हो उठे। बाबूराम जानते थे कि राखाल दक्षिणेश्वर के साधु के दर्शन करने के लिये दक्षिणेश्वर

आया-जाया करते हैं। उन्होंने राखाल से मिलकर अगले शनिवार के दिन दक्षिणेश्वर जाना निश्चित कर लिया।

यथासमय बाबूराम राखाल के साथ दक्षिणेश्वर चले। नाव में उनके साथ श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने रामदयाल भी जा रहे थे। नाव में राखाल ने बाबूराम से पूछा, "क्या तुम रातको वहाँ रुकोगे?" बाबूराम ने कहा, "क्या वहाँ रुकने की व्यवस्था है?" राखालने उत्तर दिया, "है।" बाबू रामने पुनः जिज्ञासा की, "और हम रात को क्या खाएँगे?" राखाल ने कहा, "कुछ भी खा लेंगे।"

जब बाबूराम दक्षिणेश्वर पहुँचे तब संध्या हो चली थी। वे दक्षिणेश्वर के मंदिरों की शोभा को देखकर आनन्द-विह्वल हो उठे। वहाँ का सारा दृश्य और समस्त वातावरण उन्हें अलौकिक प्रतीत हुआ। श्रीरामकृष्णदेव उस समय अपने कमरे में नहीं थे। इसलिये बाबूराम को वहीं ठहरने के लिये कहकर राखाल कालीमंदिर की ओर गये। कुछ देर बाद बाबूराम ने देखा कि राखाल भावाविष्ट श्रीरामकृष्णदेव को सहारा देकर कमरे की ओर ले आ रहे हैं; भावावेश से श्रीरामकृष्णदेव के चरण लड़खड़ा रहे हैं और राखाल जोर जोर से बोलते हुये उन्हें रास्ते के उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध में बता रहे हैं।

कमरे में पहुँचकर श्रीरामकृष्णदेव प्रकृतिस्थ हुये। रामदयाल ने उनसे बाबूराम का परिचय कराते हुये कहा कि वे बलराम बोस के सम्बन्धी हैं। श्रीरामकृष्णदेव यह जानकर बड़े आनन्दित हुये और उन्होंने बाबूराम से कहा,

"अच्छा, तुम बलराम बोस के सम्बन्धी हो ! तब तो तुम हमारे भी सम्बन्धी हो गये !" फिर उनका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचते हुये उन्होंने कहा, "जरा समीप तो आओ, मैं तुम्हारा मुख भलीभांति देखना चाहता हूँ।" समीप आने पर श्रीरामकृष्णदेव ने दिये के प्रकाश में बाबूराम के चेहरे की परीक्षा की और उनकी हथेली को अपने हाथों से तौलकर देखा। तदुपरान्त उन्होंने स्वीकृति के भाव से सिर हिलाते हुये कहा, "ठीक है, ठीक है।" थोड़ी देर बाद श्रीरामकृष्णदेव ने रामदयाल से कहा, "सुनो, नरेन्द्र यहां बहुत दिनों से नहीं आया है। क्या तुम उसे किसी दिन यहाँ आने के लिये कह दोगे ? देखो, भूलना नहीं ?" रामदयाल ने कहा, "मैं उनसे अवश्य कह दूँगा।"

रामदयाल कलकत्ते से श्रीरामकृष्णदेव के लिए फल और मिठाइयाँ लेते आए थे। श्रीरामकृष्णदेव ने उनमें से थोड़ा सा स्वयं ग्रहण किया और शेष सामग्री तीनों भक्तों को दे दी। खाने के बाद श्रीरामकृष्णदेव ने पूछा कि वे लोग कमरे में सोना पसंद करेंगे या बाहर बरामदे में। राखाल ने तो कमरे में ही सोना पसंद किया, किन्तु बाबूराम ने सोचा कि सम्भवतः कमरे में सोने से उनके जप-ध्यान में विघ्न पड़ेगा इसलिए उन्होंने रामदयाल के साथ बाहर सोना तय किया। रात-धीरे-धीरे गहरी होने लगी। सारा वातावरण अलौकिक शान्ति से पूर्ण था। यदाकदा पहरेदारों की आवाजें सुनाई दे जाती थीं। आहट पाकर बाबूराम ने देखा कि श्रीरामकृष्ण अपने कमरे से लड़खड़ाते हुए उनको

ओर आ रहे हैं। पास आने पर उन्होंने बड़ी व्याकुलता से रामदयाल को पुकारा,"क्या तुम सो गए हो?" रामदयाल जाग रहे थे। उन्होंने कहा, "नहीं महाराज।" तब श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "देखो, उसे (नरेन्द्र को) यहाँ आने के लिए अवश्य कहना। ऐसा लगता है कि कोई मेरा हृदय गीले कपड़े की तरह निचोड़ रहा है।" बाबूराम ने अनुभव किया कि श्रीरामकृष्णदेव के प्रत्येक शब्द में मार्मिक व्यथा भरी हुई है। वे सोचने लगे कि श्रीरामकृष्णदेव नरेन्द्र से कितना प्रेम करते हैं, किन्तु नरेन्द्र का व्यवहार तो बड़ा विलक्षण दिखता है! एक घण्टे बाद श्रीरामकृष्णदेव पुनः लौटे और रामदयाल को जगाकर कहने लगे, "देखो, उसे यहाँ आने के लिए कहना मत भूलना। वह बड़ा पवित्र है। मैं उसे नारायण के अवतार के रूप में देखता हूँ। मैं उसके बिना नहीं रह सकता। उसके न आने से मेरा हृदय वेदना से छटपटाने लगता है। मैं यहाँ उसीकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। उसे कम से कम एक बार आने के लिए अवश्य कहना।" रामदयाल के सान्त्वना प्रदान करने के बाद भी श्रीरामकृष्णदेव एक-एक घण्टे के अन्तर पर वहाँ आते रहे और रामदयाल को स्मरण दिलाते रहे।

दूसरे दिन बाबूराम ने श्रीरामकृष्णदेव के मुखपर अपूर्व भावान्तर देखा। उनका बदन गम्भीर सागर की तरह प्रशांत था। श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे पंचवटी की परिक्रमा कर आने के लिए कहा। पंचवटी को देखते ही बाबूराम अतीव विस्मित हुए। बिलकुल इसी प्रकार के स्थान में उन्होंने

संन्यासी जीवन बिताने की कल्पना की थी। इस अद्भुत समानता को देखकर बाबूराम को बड़ा आश्चर्य हुआ। लौटकर जब वे श्रीरामकृष्णदेव के समीप पहुँचे तब उन्होंने पूछा, "कहो, वह स्थान कैसा लगा ?" बाबूरामने आनन्द विगलित वाणी में कहा, "बहुत सुन्दर।" विदा लेते समय श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे पुनः आने के लिए कहा।

रास्ते भर बाबूराम श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में ही सोचते रहे। उन्हें लगा कि श्रीरामकृष्णदेव बहुत अच्छे व्यक्ति हैं तथा वे नरेन्द्र से अथाह प्रेम करते हैं। श्रीरामकृष्णदेव के अलौकिक स्नेह से बाबूराम प्रभावित होकर अगले रविवार को पुनः दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्णदेव उस समय अपने कमरे में ही थे। बाबूराम ने उन्हें प्रणाम किया। बाबूराम का अत्यन्त स्नेह से स्वागत करते हुये श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "बहुत अच्छा किया जो तुम यहाँ आ गए। पंचवटी की ओर जावो। वे लोग वहाँ पिकनिक मना रहे हैं। नरेन्द्र आया है। उससे बात करना।" पंचवटी में श्रीरामकृष्णदेव के बाल-भक्त आनन्द मना रहे थे। राखाल ने बाबूराम का परिचय सभी से कराया। बाबूराम नरेन्द्र को देखते ही उनकी ओर आकृष्ट हो गये। इसी समय नरेन्द्र ने अत्यन्त सुमधुर स्वर में एक भजन गाया। उनके गीत को सुनकर बाबूराम मुग्ध हो गये और सोचने लगे, "अहा! नरेन्द्र कितना प्रतिभावान है!"

धीरे-धीरे बाबूराम श्रीरामकृष्णदेव के समीपतर आते गये। श्रीरामकृष्णदेव के पावन-संसर्ग में उनकी

आध्यात्मिकता विकसित होने लगी। वे यह अनुभव करने लगे कि उनका सम्बन्ध श्रीरामकृष्णदेव से केवल इसी एक जन्म का नहीं है। वे उनके लीला-सहचर के रूप में जन्म-जन्मान्तर से इस धराधाम में अवतरित होते रहे हैं। श्रीराम-कृष्णदेव के माध्यम से श्री भगवान् अपनी अलौकिक लीला का विधान कर रहे थे। ईश्वरत्व की अनुभूति से पूर्ण रहने के कारण श्रीरामकृष्ण सदैव सभी व्यक्तियों का स्पर्श सह नहीं सकते थे। यद्यपि उनकी देखभाल राखाल और लाटू करते थे किन्तु वे भी सब समय दक्षिणेश्वर में नहीं रहते थे। बाबूराम बीस वर्ष की अवस्था में ही श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत सम्पर्क में आ गए थे। उनपर सांसारिकता की छाया भी नहीं पड़ी थी। उनकी पवित्रता अपरिमित थी। अपने इसी महान् गुण के कारण वे श्रीरामकृष्णदेव के सही परि-चारक बन सके थे। श्रीरामकृष्णदेव उनके इसी गुण को लक्ष्य कर कहा करते थे, "बाबूराम नया बर्तन है। उसमें फटने के डर के बिना दूध को रखा जा सकता है....... वह सिर से पैर तक पवित्र है। कोई भी अपवित्र विचार उसकी देह और मन का स्पर्श नहीं कर सकता।" एक दिन उन्होंने बाबूराम को बुलाकर कहा था, "इस स्थिति में मैं अन्य लोगों का स्पर्श तक सहन नहीं कर सकता। अगर तुम यहाँ रुक जाओ तो बड़ा अच्छा होगा।" श्रीरामकृष्णदेवके अनुरोध पर बाबूराम दक्षिणेश्वर में ही रुक गये। तबसे वे निरन्तर श्री-रामकृष्णदेव की सेवा करते रहे। श्रीरामकृष्णदेव भी उनकी सेवा से बड़े प्रसन्न थे तथा उन्हें अपना 'दर्दी, कहा करते थे।

बाबूराम की माता पहले से ही श्रीरामकृष्णदेव की भक्त थीं। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे बाबूराम को वहीं छोड़ जाने का अनुरोध किया। श्रीमती मातंगिनी दासी तत्काल सहमत होगईं किन्तु उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से यह याचना की कि भगवान् के चरणों में उनकी दृढ़ प्रीति हो और उन्हें कभी भी पुत्र-शोक न भोगना पड़े। उनकी दोनों याचनाएँ यथासमय पूरी हो गईं।

अब बाबूराम को अबाधगति से श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य में रहने का मौका मिला। युगावतार के वरद हस्त के नीचे उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ जागृत हो गईं और वे अन्तर्मुखी हो गये। स्कूल की पढ़ाई से उनका ध्यान हट गया। फलतः वे इन्ट्रेन्स की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। जब श्रीरामकृष्णदेव को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने कहा, "यह अच्छा ही हुआ। वह बंधनों से मुक्त हो गया।" बाबूराम यह सुनकर बड़े निश्चिन्त हुए। किन्तु श्रीराम-कृष्णदेव बाबूराम का पूरा ध्यान रखते थे। एक दिन बाबू-राम के मन की थाह लेते हुए उन्होंने पूछा, "तुम्हारी पुस्तकें कहाँ हैं? क्या तुम पढ़ना-लिखना नहीं चाहते?" फिर महेन्द्र-नाथ गुप्त की ओर मुड़कर कहने लगे, "यह मार्ग बड़ा कठिन है। वह दोनों चाहता है।" बाबूराम से उन्होंने कहा, "महाज्ञानी वसिष्ठ तक पुत्र शोक में विह्वल हो गये थे। जब लक्ष्मण ने साश्चर्य राम से इसका कारण पूछा तब राम ने बताया, 'भाई, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जो ज्ञानी होता है वह अज्ञानी भी होता है। किन्तु तुम्हें इन दोनों से

ऊपर उठना होगा' " बाबूराम ने कहा, "मैं ठीक ऐसा ही चाहता हूँ।" श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें समझाते हुए कहा, "क्या तुम इन दोनों को साथ रखकर उस तत्त्व को पा सकते हो ? यदि तुम उसे पाना चाहते हो तो तुम्हें इनसे विलग होना पड़ेगा।' बाबूराम ने उनसे प्रार्थना की, "कृपाकर आप मुझे इनसे मुक्त कर दीजिए।"

बाबूराम को साक्षात् युगावतार की लीला देखने का सौभाग्य मिला था। उनके वचनों के श्रवण-मनन से उनकी आत्मा का परिष्करण हो रहा था। एक दिन बाबूराम श्रीरामकृष्णदेव के कमरे में सो रहे थे। आहट पाकर उनकी नींद खुल गयी। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव भावाविष्ट होकर अपने कमरे में टहल रहे हैं तथा उनके मुख पर तीव्र उपेक्षा का भाव है। वे अत्यन्त अरुचि प्रदर्शित करते हुए कह रहे हैं, "दूर रखो, माँ! दूर रखो, तुम मुझे यश मत दो, माँ! मत दो।" बाबूराम को प्रतीत हुआ कि जगन्माता उनसे थोड़ा सा यश ले लेने को कह रही हैं और श्रीरामकृष्ण उससे अत्यन्त अरुचि प्रदर्शित कर रहे हैं। इस घटना के बाद से बाबूराम को यश से अत्यन्त विरक्ति हो गई।

श्रीरामकृष्णदेव कोई भजन सुनकर या ईश्वर का नाम मात्र लेकर भाव-समाधि में लीन हो जाया करते थे। उनकी कृपा से अनेक भक्तों को भाव-समाधि की प्राप्ति हुई थी। किन्तु बाबूराम को भाव-समाधि की अनुभूति नहीं होती थी इसलिए उन्हें बड़ा दुःख होता था। एक दिन उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से कहा कि यदि वे जगन्माता से उनके लिए

प्रार्थना करें तो उनकी इच्छा पूरी हो सकती है। जब श्रीरामकृष्णदेव को जगन्माता ने बताया कि बाबूराम को भाव नहीं, ज्ञान मिलेगा तो श्रीरामकृष्ण अतीव प्रसन्न हुए।

एक बार प्रतापचन्द्र हाजरा बाबूराम तथा अन्य भक्तों को बुलाकर कहने लगे, "अरे, श्रीरामकृष्ण के साथ खाने-पीने और आनन्द मनाने से क्या होगा ? उनसे तुम लोग सिद्धियाँ क्यों नहीं माँग लेते ?" जब श्रीरामकृष्णदेव ने यह सुना तब वे बाबूराम को बुलाकर कहने लगे, "भला तुम लोग मुझसे क्या माँगोगे ? क्या मेरी वस्तु तुम्हारी नहीं है ? इसलिए कुछ माँगने का भाव छोड़ दो, क्योंकि वह तो भेद-बुद्धि से उत्पन्न होता है। प्रत्युत मुझमें अपना तादात्म्य स्थापित करो और इस खजाने की कुंजी ले लो।

परवर्ती काल में श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से पीड़ित होकर काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे। इस समय बाबूराम तथा अन्य भक्तों ने उनकी तन-मन से सेवा की थी। किन्तु भक्तों के अथक प्रयत्नों के बावजूद भी श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी लीला का संवरण कर लिया। श्रीरामकृष्णदेव के अन्तर्धान के पश्चात् बाबूराम नरेन्द्रनाथ तथा अन्य भक्तों के साथ वराहनगर मठ में तपस्या करने लगे तथा अन्य गुरुभाइयों के साथ उन्होंने भी संन्यास-धर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी समय से नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द बने और बाबूराम स्वामी प्रेमानन्द हुए।

वराहनगर और आलमबाजार में श्रीरामकृष्णदेव के शिष्यों को कठोर तितिक्षा और तपस्या का जीवन बिताना

पड़ा था। अन्य गुरुभाई गुरुदेव के संदेश का प्रचार करने के लिए निकल रहे थे। अतः स्वामी प्रेमानन्द ही मठ की व्यवस्था करते थे। कुछ काल पश्चात् वे भी तपस्या करने के लिए उत्तर भारत की ओर गये और बहुत दिनों तक साधना में लीन रहे। कालान्तर में जब बेलुड़ मठ की स्थापना हुई तो गुरुभाइयों के लगातार अनुरोधों के कारण वे कलकत्ता लौट आये।

स्वामी विवेकानन्द के लीला-संवरण के उपरान्त स्वामी प्रेमानन्द के कंधों पर गुरुतर उत्तरदायित्व सौंप दिये गये। स्वामी ब्रह्मानन्द को मठ और मिशन के कार्यों के संचालन के लिए लम्बी-लम्बी यात्राएँ करनी पड़ती थीं। उनकी अनुपस्थिति में स्वामी प्रेमानन्द ही मठ की व्यवस्था करते थे। अनेकानेक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी स्वामी प्रेमानन्द के असीम प्रेम, करुणा, मृदुता, और मधुरता के गुणों में लेशमात्र भी अंतर नहीं पड़ा। वे ही ठाकुर की पूजा करते थे, युवक ब्रह्मचारियों एवं संन्यासियों को शिक्षा प्रदान करते थे, अतिथियों और भक्तों के निवास और भोजन की व्यवस्था करते थे तथा उन्हें आध्यात्मिक निर्देश देते थे।

स्वामी प्रेमानन्द अलौकिक प्रेम की प्रतिमूर्ति थे। जिस प्रकार बादल बिना किसी भेदभाव के सभी स्थानों पर जल बरसाता है, उसीप्रकार स्वामीजी की स्नेहकादम्बरी संन्यासी और गृहस्थ, उच्च और निम्न, भले और बुरे सभी प्रकार के व्यक्तियों पर समान रूप से बरसती थी। उनके स्नेह की छत्रछाया में समाज के द्वारा तिरस्कृत एवं लांछित व्यक्तियों

को भी आश्रय मिला था। एक बार कलकत्ते का एक युवक कुसंगति में पड़कर शराब पीने लगा तथा अनेकानेक दुर्गुणों में लिप्त हो गया। जब उसके एक सम्बन्धी ने स्वामीजी से उसकी स्थिति बतायी और उसके कल्याण के लिए प्रार्थना की तब दीनवत्सल प्रेमानन्दजी स्वयं उस युवक के घर गये। उससे अत्यंत स्नेह से वार्तालाप करते हुए उसे मठ आने का उन्होंने निमंत्रण दिया। स्वामीजी के देवदुर्लभ प्रेम की अमोघ शक्ति से कालान्तर में उसके समस्त कुसंस्कार नष्ट हो गए और वह संसार त्याग कर संन्यासी बन गया।

श्रीरामकृष्णदेव की कीर्ति-कौमुदी के प्रसार के साथ ही मठ में आने वाले भक्तों और अभ्यागतों की संख्या बढ़ती जा रही थी। कभी-कभी भक्तों का दल ऐसे समय में भी पहुँच जाया करता था जब सब लोग भोजन करके विश्राम करते रहते थे। ऐसी स्थिति में स्वामीजी बिना किसी को बुलाए अकेले ही रसोई घर में पहुँचकर उनके भोजन की व्यवस्था किया करते थे। स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि जो भी ठाकुर का प्रसाद ग्रहण करता है उसकी आध्यात्मिकता कभी न कभी अवश्य जागृत होगी। वे मानते थे कि मठ में आने वाले लोग विशिष्ट आध्यात्मिक सम्पदा से युक्त होते हैं। ऐसे क्षणों में यदि कोई आश्रमवासी उनकी सहायता करने के लिए उपस्थित होता तो वे बड़े प्रसन्न होते और कहा करते, "गृहस्थों को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। क्या उन्हें हमेशा ठीक समय पर आना सम्भव हो सकता है? हम उनके लिये और क्या कर सकते

हैं ? हम उनकी सेवा ही तो कर सकते हैं ? सेवा करने में थोड़ी सी शारीरिक शक्ति के अलावा और कुछ नहीं लगता। ठाकुर की कृपा से यहाँ किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। क्या हम उन्हीं के पुत्रों को उनकी वस्तुएँ प्रदान कर धन्य नहीं होंगे !"

स्वामी प्रेमानन्द भक्तों में निन्तर आध्यात्मिक जिज्ञासा जागृत करने का प्रयास करते थे। उनके शब्दों में आत्मा तक पहुँचकर सारे जीवन-क्रम को परिवर्तित कर देने की शक्ति रहती थी। छुट्टियों में अनेक छात्र बेलुड़ मठ पहुँचते थे तथा उन्हें स्वामीजी से मातृतुल्य स्नेह प्राप्त होता था। स्वामीजी अपूर्व प्रेम और धैर्य के साथ उन्हें उपदेश प्रदान करते थे। स्वामीजी चाहते थे कि प्रत्येक आश्रमवासी आध्यात्मिकता से सम्पन्न होने के साथ ही पूर्ण व्यावहारिक भी बने। वे उनको उपदेश देते हुए कहा करते थे, "तुम लोगों को संसार के सभी कार्यों को करने की विधि जाननी चाहिए, फिर चाहे वह देवपूजा का कार्य हो या रसोई बनाने का, चाहे गोपालन का कार्य हो या झाड़ू देने का, चाहे छोटा हो या बड़ा। तुम्हें पूरी एकाग्रता से सभी कार्यों को सम्पन्न करना चाहिए। साध्य के समान साधन पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए।" स्वामीजी के उपदेश केवल शाब्दिक नहीं होते थे अपितु वे अपने आदर्श आचरण के द्वारा मार्मिक शिक्षा प्रदान करते थे।

स्वामीजी कहा करते थे कि सरदार को सिरदार होना चाहिए। एक बार एक मुसलमान युवक अपने हिन्दू मित्रों

के साथ मठ देखने आया। भोजन के पश्चात् जब पत्तलों को उठाने की बारी आयी तो मुसलमान युवक की जूठी पत्तल उठाने में आश्रमबासी हिचकने लगे। यह देखकर स्वामीजी तत्काल आगे बढ़े और पत्तल उठाकर उन्होंने उस स्थान को स्वच्छ कर दिया। इसी प्रकार एक बार वे पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह इलाके में श्रीरामकृष्णदेव के संदेश का प्रचार कर रहे थे। वे कह रहे थे कि सभी में एक ही ईश्वर विद्यमान है। इतने में एक मुसलमान व्यक्ति खड़ा हुआ और पूछने लगा, "स्वामीजी, क्या आप मेरे हाथ का छुआ भोजन ग्रहण कर सकते हैं?" स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया, "अवश्य।" उसी समय कुछ भोजन लाया गया और स्वामीजी ने मुसलमान व्यक्ति के हाथों से उसे बड़े प्रेम से ग्रहण किया।

स्वामी प्रेमानन्द ने अपनी अपरिमित सहनशीलता, धैर्य और सहिष्णुता के द्वारा बेलुड़ मठ की व्यवस्था को दृढ़ बनाया था। वे आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न थे तथा सारा जगत् उन्हें ईश्वर के आलोक से भास्वर दीखता था। वे मानते थे कि दूसरों के दोषों की जड़ में स्वयं की कमी निहित रहती है। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "ठाकुर के चरणों के समीप बैठकर मैंने शिक्षा प्राप्त की है। जब लड़के गलतियाँ करते हैं तो मैं उसपर विचार करता हूँ। मुझे लगता है कि इसमें उनका दोष नहीं है। दोष मेरा है। मैं यह नहीं सोचता कि मैं अच्छा हूँ। मैं तो सीखने आया हूँ। मैं ठाकुर से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे सद्बुद्धि दें। दूसरों के दोषों

को ढूँढ़ते - ढूँढ़ते हम स्वयं उनसे प्रभावित हो जाते हैं। हम यहाँ दूसरों के दोषों को ढूँढ़ने और उन्हें सुधारने नहीं आये हैं, अपितु यह सीखने आए हैं कि हे प्रभु, तुम्हीं निखिल विश्व हो। मैं किसे बुरा कह सकता हूँ ? प्रत्येक वस्तु में प्रभु विद्यमान हैं। अंतर केवल उस धूल की मात्रा का है जो स्वर्ण पर पड़ी हुई है।" स्वामीजी विनम्रता को बहुत बड़ा गुण मानते थे। वे कहा करते थे, "यदि तुम साधु बनना चाहते हो तो पहले तुम्हें विनम्र बनना पड़ेगा।'

स्वामी विवेकानन्द बेलुड़ मठ को संस्कृत विद्या का महान् केन्द्र बनाना चाहते थे। संस्कृत विद्या एवं पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा बनाकर स्वामी प्रेमानन्द ने उनके स्वप्न को साकार किया था। विद्यार्जन में संलग्न संन्यासियों को प्रोत्साहित करते हुए स्वामीजी कहा करते थे, "तुम ज्ञान-प्रसार के मार्ग के ज्योति-स्तम्भ बनो। साधुओं के बीच ज्ञान का विकास होने पर देश को नया स्वरूप मिलेगा और बालक अपने जीवनोद्देश्य का निर्धारण करेंगे। इसी तरह से बालक मनुष्य बनेंगे—मनुष्य ही नहीं, देवता और ऋषि बनेंगे। एक पाठशाला या दो-तीन सेवाश्रम स्थापित करने से क्या होगा ? ईश्वर की कृपा पर भरोसा रखो और नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में विद्यालयों और सेवाश्रमों की स्थापना करो।"

स्वामीजी स्त्रियों को जगन्माता के रूप में देखा करते थे तथा उनके समीप शिशुवत् व्यवहार किया करते थे। उनका विश्वास था कि देश की उन्नति तभी हो सकती है जब नारियों

को शिक्षित और सम्मानित किया जाय। वे चाहते थे कि नारियों को प्राचीन महिलाओं के आदर्शपालन की शिक्षा के साथ ही अन्यान्य बातों की भी शिक्षा प्रदान की जाये। उन्होंने एक महिला को पत्र में लिखा था, "हजारों निवेदिताओं को बंगाल में आने दो, एक नए सिरे से बड़ी संख्या में गार्गी, लीलावती, सीता और सावित्री को अवतरित होने दो। संसार में शिक्षा से अच्छी क्या वस्तु है? ज्ञान प्रदान करो, अज्ञान स्वयं इसके संस्कार से नष्ट हो जाएगा।"

मठ के अनेकानेक कार्यों को सम्पादित करते हुए भी स्वामीजी आध्यात्मिकता की गहराइयों में रहा करते थे। एक दिन वे मन्दिर में ध्यान करने गए। बहुत देर बाद ठाकुर को भोग लगाने के लिए जब एक संन्यासी मन्दिर में पहुँचे तब उन्होंने देखा कि स्वामीजी निश्चल बैठे हुए हैं, उनकी आँखें बन्द हैं तथा उनका शरीर कुछ पीछे की ओर झुक गया है। जब स्वामीजी जोर जोर से पुकारने पर भी प्रकृतिस्थ नहीं हुए तब उन्होंने उनकी आँखों के सामने प्रकाश उपस्थित किया। धीरे-धीरे उनकी पलकें खुलीं। संन्यासी ने पूछा कि क्या उन्हें नींद आ गई थी। स्वामीजी ने इसके उत्तर में एक सुमधुर गीत गाया जिसका भावार्थ यह है: "मैं जाग गया हूँ। अब मैं और नहीं सोऊँगा। मैं योग में स्थित हो गया हूँ। हे माँ, मैंने तुम्हारी योग-निद्रा तुम्हें ही सौंप दी है और नींद को सुला दिया है।" उन्होंने संन्यासी से कहा कि यदि वे उन्हें ऐसी स्थिति में देखें तो पुकारने की अपेक्षा कानों में ठाकुर के नाम का जाप कर दें।

लगभग छः वर्षों तक अथक श्रम करने के उपरान्त स्वामी जी स्वामी शिवानन्द और स्वामी तुरीयानन्द के साथ अमरनाथ की यात्रा के लिए निकले। वहाँ से वापस आकर उन्होंने बंगाल के स्थान-स्थान पर श्रीरामकृष्णदेव के संदेश का प्रचार किया। कार्य के आधिक्य से उनका शरीर ज्वराक्रान्त हो गया। जलवायु-परिवर्तन की दृष्टि से उन्हें देवघर ले जाया गया। वे ठीक हो ही रहे थे कि इतने में उन्हें अचानक इन्फ्लूएंजा लग गया। चिकित्सा के लिए उन्हें पुनः कलकत्ता लाया गया। किन्तु अब धराधाम पर उनका कार्य समाप्त हो चला था। भक्तों के अथक प्रयासों के बावजूद ३० जुलाई सन् १६१८ को तीसरे प्रहर वे महासमाधि में लीन हो गए। वे महान् निःस्पृही थे। उनके लीलासंवरण के उपरान्त उनकी सम्पत्ति के नाम से एक जूट का थैला और कुछ किताबें ही मिलीं। वे प्रेम और श्रद्धा की मूर्ति थे। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द उन्हें श्रीराधा का अंशावतार कहा करते थे।

अहंकारी मनुष्य में कृतज्ञता बहुत कम होती है, क्योंकि वह यही समझता है कि मैं जितना पाने योग्य हूँ उतना मुझे कभी प्राप्त नहीं होता।

— बीचर

क्या संसार अधिक अधार्मिक हो गया है ?

श्रीमत् स्वामी पवित्रानन्द जी महाराज, न्यूयार्क

यदि हम धर्म में रुचि रखने वाले लोगों से पूछें कि 'क्या संसार अधिक अधार्मिक हो गया है', तो वे तुरन्त इसका उत्तर 'हाँ' में देंगे। वे कहेंगे, 'संसार दिन पर दिन अधिक अधार्मिक होता जा रहा है और आज के युग में धार्मिक भावना का अभाव पराकाष्ठा पर है।' बात ठीक . है। जब हम आधुनिक संसार की अवस्था की ओर दृष्टिपात करते हैं तो यह देखकर बड़ी निराशा होती है कि संसार किस ओर जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध ने जिस कल्पनातीत और अमानवीय विभीषणता को जन्म दिया था तथा आज मानव की नियति पर यह जो परमाणु बम डेमोक्लीज़ की तलवार की तरह लटक रहा है, उसे देखते हुये ऐसा कौन कह सकता है कि दुनिया धर्म के रास्ते से नहीं हटती जा रही है ? प्रत्येक युद्ध समाज में नीति और चारित्र्य के क्षेत्र में बड़ी क्रान्तियों को जन्म देता है। प्राचीन प्रथाओं को चुनौती दी जाती है और उनके प्रति धमकी-भरे ताने कसे जाते हैं। जो कुछ शुभ और पवित्र है उसके प्रति निपट अवज्ञा का भाव जीवन का क्रम बन जाता है। युद्ध के बाद जिन सैनिकों को नौकरी से छुट्टी मिल जाती है, वे अपनी पुरानी स्थिति के साथ मेल नहीं कर पाते और वे पहले जिस समाज के सुव्यवस्थित सदस्य थे उसी के सन्तुलन पर आघात किया करते हैं। यह अत्यन्त सत्य है कि शान्ति

की समस्याओं को सुलझाना युद्ध की समस्याओं के समाधान की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। युद्ध का मतलब होता है जन-बल और धन-बल की अपूरणीय क्षति। जो लोग युद्ध से प्रभावित होते हैं उन्हें महत्तम त्याग करना पड़ता है। पर फल क्या निकलता है ? लोग देखते हैं कि युद्ध के बाद भी शान्ति नहीं मिल पाती और वे जिस सुख की आशा किए हुए बैठे थे वह मरुमरीचिका सिद्ध हुआ है।

फिर, जब हम परम्परागत धर्मों के आन्तरिक कार्य-कलापों को देखते हैं तो उनकी अवस्था भी निराशाजनक ही दिखती है। गिरजाघरों में उपस्थिति अत्यन्त कम रहती है और वह दिनोंदिन कम होती जा रही है। लोगों को आकर्षित करने के लिए पादरीगण संगीत और अन्य तरीकों का उपयोग करते हैं। उनका यह चिल्लाना कि मानवता की रक्षा के लिए ईसा मसीह सूली पर लटक गये, जनता पर कोई प्रभाव नहीं डालता। मानवता अपनी रक्षा के लिए स्वयं चिन्तित नहीं है, अतः पादरियों का उद्यम अरण्य-रोदन साबित होता है। यही बात अन्य धर्मों पर भी लागू होती है। भारत में जिस व्यक्ति ने भी थोड़ी-बहुत आधुनिक शिक्षा पा ली है, वह परम्परागत धर्मों के नियमानुसार चलने में विशेष उत्सुक नहीं है। वह मन्दिरों में जाकर पूजा करने को तैयार नहीं है। उसे ऐसी पूजा पर कोई आस्था नहीं है। उसके लिए ऐसी पूजा का कोई उपयोग नहीं है। यदि वह मन्दिर में जाता भी है तो उसके धार्मिक प्रभाव से प्रेरित होकर नहीं बल्कि उसके इतिहास, वास्तुकला और

शिल्प को जानने की इच्छा से। मन्दिरों के प्रति उसका प्रेम अधिक से अधिक पुराने संस्कारों का परिणाम होता है। चूँकि कुछ उद्धत विदेशियों ने मन्दिर-पूजा की निन्दा की है इसलिए राष्ट्रीय स्वाभिमान से प्रेरित होकर वह उसका प्रतीकार करना अपना कर्तव्य समझता है। यही बात चीन में भी हो रही है। जहाँ के लोग संसार की अधुनातन विचार-धारा के सम्पर्क में आते हैं वे अपनी प्राचीन संस्कृति और जीवनप्रणाली की उपेक्षा कर देते हैं।

और आज तो संसार में सर्वत्र धर्म पर खुला जिहाद बोला जा रहा है। कुछ लोग पुरजोर शब्दों में धर्म की उप-योगिता पर कटाक्ष कर रहे हैं। यही नहीं, वे जोर-शोर से यह कह रहे हैं कि धर्म ने मानव जाति का अकल्याण किया है। ऐसा लगता है कि इनके अनुयायी तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। धर्म के प्रति आक्षेप की इस उमड़ती तरंग में धर्मानु-यायियों की आवाज कहीं दब-सी गयी है। वे आधुनिक जगत् में अपने आपको रहने के अयोग्य पाते हैं। वे अनु-भव करते हैं कि इस युग में पैदा होना उनके लिए एक गलत बात हो गयी है।

जब हम इस निराशाजनक वस्तुस्थिति को देखते हैं तो स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है, 'यह संसार आखिर जा कहाँ रहा है ? यदि ऐसा ही चलता रहा तो मानव का भविष्य क्या होगा ?' हम अनुभव करते हैं कि वास्तविक ही दुनिया अधार्मिक हो गयी है और दिनों दिन हालत बदतर होती जा रही है।

पर यदि कोई अतीत की ओर दूर तक देखे तो वह पूछ सकता है, 'दुनिया बेहतर थी कब ?' हमें अतीत का आकर्षण हो सकता है पर वह केवल इसलिए है कि हम उसे निकट से नहीं देख पाते। चाँद दूर से कितना मोहक दिखता है, पर यदि उसके समीप जाओ तो कैसा भद्दा न दिखता होगा ! यही बात अतीत के सम्बन्ध में भी सत्य है। यह तो मानव-स्वभाव की विशेषता है कि वह वर्तमान से सदैव असन्तुष्ट रहता है। जो बात दृष्टि के दायरे में नहीं आती वह उसे सुन्दर ही प्रतीत होती है। इसलिए मनुष्य बीते के लिए उसाँसें छोड़ता है और भविष्य में आनेवाली बातों के लिए उत्सुकतापूर्वक प्रतिक्षा करता है। पर जब भविष्य वर्तमान बन जाता है तब वह निस्संदेह अपनी सारी मोहकता खो देता है। कहा जाता है कि प्रतिक्षा में ही सुख है और ज्योंहि प्रतीक्षित चीज हस्तगत होती है, उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। अतएव मनुष्य सदैव दुःखी और असन्तुष्ट रहता है। किसी भी व्यक्ति से किसी भी दशा में पूछो। उसके उत्तर से तुम्हें ऐसा लगेगा कि वह दुःखी और अशान्त है। वह अपनी ही परेशानियों में उलझा हुआ है और यदि उसका बस चलता तो ऐसी हालत में कदापि न रहता।

यदि तुम किसी भी धर्म के प्राचीन शास्त्रों को पढ़ो तो यही एक बात सर्वत्र दीख पड़ेगी कि 'दुनिया धर्म के पथ से भ्रष्ट हो गयी थी। पाप का भार बहुत अधिक बढ़ गया था। एक मसीहा का आना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। मानव-

वजाति को बचाने उसका आविर्भाव हुआ। बहुत से लोग उसके अनुयायी बन गये और धरती पर उतरे भगवान् के रूप में उसकी पूजा करने लगे।' परन्तु मानवता की रक्षा न हो सकी। उसने अपने ही रास्तों का अनुसरण किया और गलतियाँ करती हुई, ठोकरें खाती हुई वह चलने लगी जब तक कि एक दूसरा मसीहा न आ गया और एक नये धर्म को उसने जन्म न दे दिया। और तब ये धर्म आपस में झगड़ने लगे। इनमें से प्रत्येक अपनी श्रेष्ठता की घोषणा करने लगा और मानवजाति के मन पर अपने एकाधिपत्य का दावा करने लगा। यह केवल प्रागैतिहासिक काल के लिए सत्य नहीं है बल्कि उस युग के लिए भी जिसकी घटनाएँ सही रूप से लिपिबद्ध की गयीं हैं। यूरोप की मध्ययुगीन घटनाओं पर विचार करो। 'इन्क्विजिशन' (Inquisition) के नाम पर कैसा अमानवीय अत्याचार किया गया! धर्म के नाम पर हजारों स्त्री-पुरुषों और बच्चों को जीवित जला दिया गया। अधिक अधार्मिक कौन थे—वे जिन पर अत्याचार किया गया, या वे जिन्होंने अत्याचार किया? इन्क्विजिशन के बाद भी बातें मूलतः वैसी ही रहीं। जब विज्ञान के आविष्कारों ने प्राचीन विश्वासों को तथा धर्म के द्वारा प्रचारित एवं उस पर आधारित सिद्धान्तों को ढहाना प्रारम्भ किया तो जोरों से आवाज उठायी गयी कि धर्म खतरे में है। पर धर्म के इन ठेकेदारों में इतनी शक्ति नहीं थी कि उनको चुनौती देने का साहस रखनेवाले वैज्ञानिकों पर अत्याचार कर सकें।

जब हम भारत के प्राचीन काव्यों और पुराणों को पढ़ते

हैं तो देखते हैं कि उनमें ऐसे आदर्श चरित्र तो हैं जो मानवता के जीते - जागते गौरव हैं पर उन्हीं के साथ ऐसे दुष्ट चरित्र भी विद्यमान हैं जो यदि आज होते तो इस युग के दुष्कर्मियों को भी दुष्टता में पीछे छोड़ जाते। इससे विदित होता है कि उस सम्मोहक प्राचीन युग में भी अच्छाई के साथ साथ बुराई रही, साधुओं के साथ साथ पापी भी रहे। उस काल में भी न तो सभी कुछ अच्छा था, और न सभी कुछ बुरा। जब हम भारत के इतिहास को उसके अत्यन्त प्राचीन काल से देखते हैं, तो प्रत्येक युग में हमें लोगों की यह शिकायत मिलती है कि मानव की नियति अनिश्चितता के दौर से गुजर रही है। बुद्ध ने अपने समय के धार्मिक जीवन को क्रिया-अनुष्ठानों के भार से दबा हुआ पाया। इनमें से कई क्रिया-अनुष्ठान तो ऐसे थे जिनमें पशुओं के प्रति अत्यधिक निर्ममता बरती जाती थी। सनातनी हिन्दू सदैव बुद्ध और बौद्धधर्म के विरोधी ही रहे। पर बुद्ध का सन्देश अपने बल और गुरुत्व से सबको बहा ले गया। तथापि जो उसके विरोधी थे वे तो शिकायत करते ही रहे कि बौद्ध धर्म से देश को बड़ी हानि हुई है और भविष्य में भी होती रहेगी। फिर एक समय आया जब बौद्ध धर्म अधःपतित हो गया और हिन्दू धर्म ऊपर उठा। उस समय सम्भवतः बौद्धों को हिन्दू पुनरुद्धारकों से वही शिकायत रही होगी। इस प्रकार चलता ही रहा। आज से सौ वर्ष पहले के भारत को देखो। कैसी दशा थी? अंग्रेज आये, इस धरती को जीता और लोगों के सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण में क्रान्ति

ला दी। उनके साथ ईसाई धर्म आया और उसने हिन्दू धर्म के गढ़ पर धावा बोल दिया। जो लोग अंग्रेजी शिक्षा में शिक्षित और दीक्षित हुए उनमें से अधिकांश जन हिन्दू प्रथाओं और परम्पराओं की, सनातनी विचारों और भावनाओं की खुले-आम अवज्ञा करने लगे और अपने परम्परागत प्राप्त आदर्शों को छोड़कर अन्य मतावलम्बी बन गये। यदि कोई इस सनातन धर्मनिष्ठ समाज की अन्दरूनी गतिविधियों का अध्ययन करे तो देखेगा कि वहाँ सब कुछ अच्छा ही अच्छा नहीं था। जहाँ एक ओर लोगों का एक वर्ग कट्टरता के साथ उच्च आदर्शों को जकड़े हुए था, वहीं दूसरी ओर बाल-विधवाओं को जन्म देने वाले हास्यास्पद ढंग के बाल-विवाह थे, घृणित रूप से विशाल पैमाने पर बहुपत्नी प्रथा थी, गतिहीन समाज के शिथिल नैतिक बन्धन थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता — यदि हम अत्यधिक आदर्शवादी न हों तो — कि तत्कालीन सामाजिक अवस्था सब प्रकार से आदर्श थी।

प्रचीन की ओर यह जो हमारी अति-समालोचनात्मक दृष्टि है उससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमने वर्तमान युग के दोषों के प्रति अपनी आँखें मीच ली हैं अथवा यह कि आज की दशा को सुधारने के लिए जिस निष्ठा और सचेत सावधानी की जरूरत है उससे हम अनजान हैं। हमारा वक्तव्य केवल इतना है कि ऐसा कहना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता कि अतीत की तुलना में आज सभी चीजें गलत हैं। असल में बात होती यह है कि लोगों की एक पीढ़ी ससार के मंच पर आती है, वह यथा शक्ति अपनी भूमिका

का निर्वाह करती है और जब उसके मंच छोड़ने का समय आ जाता है और जब वह देखती है कि आनेवाली पीढ़ी उत्सुकता के साथ उसका स्थान लेने के लिए खड़ी है, तो उसे चिन्ता हो जाती है कि उसने जिस परम्परा और मानदण्ड को कायम किया था वह अब उपेक्षित हो जायगा। इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन –पुराने और नये – में झगड़ा खड़ा हो जाता है। और यह झगड़ा शाश्वत है। यह विचारणीय है कि जो लोग संसार पर पथभ्रष्टता का दोषारोपण करते हैं उनमें से अधिकांश प्रौढ़ और वृद्ध होते हैं। तरुण पीढ़ी साधारणतया ऐसा नहीं कहती। तरुण तो संसार को एक-बारगी नयी तरह से नयी बुनियाद पर रचने के उत्साह और कल्पनाओं से भरे होते हैं। ऐसा करने में यदि उन्हें समस्त प्राचीन प्रथाओं और दकियानूसी विचारों को–फिर वे कितने भी पवित्र और पूज्य क्यों न हों– त्यागना भी पड़ा, तो वे नहीं हिचकेंगे। वे कहेंगे, 'जीर्ण-शीर्ण मकान की जगह नयी इमारत खड़ी करने के लिए बहुतसा तोड़-फोड़ करना ही पड़ता है। उस पर शोक क्यों करना? वह तो बड़ी कमजोरी का लक्षण है।' अब बताइए, किसकी बात मानी जाये?— भविष्य के सपनों से भरे युवकों की अथवा उन कुण्ठितविचार वृद्ध जनों की जो पीछे की ओर अन्तिम लालचभरी निगाहों से देख रहे हैं?

समय के प्रवाह के साथ दशा बदलती है, परिस्थितियों में परिवर्तन होता है और मनुष्य के भी तौर-तरीके बदल जाते हैं। हम मध्य-बीसवीं शताब्दी के मनुष्य के कर्मों की

मापजोख उन विचारों और आदर्शों से नहीं कर सकते जो प्रागैतिहासिक समाज में प्रचलित थे। हम आज के जीवन की कल्पना उपनिषद्कालीन तपोवनों के सन्दर्भ में नहीं कर सकते, क्योंकि आज के युग में तपोवन ही विरल हैं। यह सोचना अर्थहीन है कि हम अपने आज के समाज को वर्णाश्रम के प्राचीन कड़े नियमों द्वारा नियमित कर सकते हैं। आज आधुनिकता के भार से वर्णाश्रम के तंग दायरे मिट गये हैं और दिन-प्रतिदिन वे सबके सब एक में मिले जा रहे हैं। किन्तु इससे हम इनकार नहीं कर सकते कि उस व्यवस्था में निहित प्राचीन तत्त्व आज भी विद्यमान हैं और वे स्वस्थ हैं, उपयोगी हैं, लाभदायक हैं। उन प्राचीन तत्त्वों का कार्यान्वयन आज की नवीन परिस्थितियों में करना होगा। इस प्रक्रिया में भले उन तत्त्वों का बाह्य रूप बदल जाये पर उनकी वास्तविक महत्ता नष्ट नहीं होती। किन्तु जिन लोगों के विचार कुछ लीकों में बँधे होते हैं वे इससे चौंक जाते हैं और कहते हैं कि संसार विनाश की ओर जा रहा है। हम चाहें या न चाहें, संसार गतिशील है, वह स्थिर नहीं है, उसमें निर्गति नहीं आयी है। गतिशीलता जीवन है, गतिहीनता मृत्यु का लक्षण है। अतः इस प्राणवन्त संसरणशील संसार में परिवर्तन अपरिहार्य हैं। केवल भीरु इससे आतंकित होते हैं।

यह तथ्य कि प्रत्येक नया विचार पर्याप्त समालोचना का शिकार होता है, यह सूचित करता है कि हम प्राणवन्त हैं और यह कि हम उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं। व्यक्तिगत

जीवन में आत्म-परीक्षण हमारी उन्नति में सहायक है। जितना गहरा आत्म-निरीक्षण होगा, हम उन्नति भी उसी मात्रा में करेंगे। हम कह सकते हैं कि संसार ठीक रास्ते पर है, क्योंकि प्रत्येक नये आन्दोलन को सूक्ष्म विश्लेषण, निर्मम समालोचना और कठिन परीक्षण के दौर में से गुजरना पड़ता है। उसे प्रबल विरोधों के बीच पनपना और बढ़ना पड़ता है। यदि वह बच गया तो उसका कारण मात्र उसकी उपयोगिता, आवश्यकता और उसके अपने स्वाभाविक गुण होते हैं। इसको हम आत्म-विश्लेषण और आत्म-निरीक्षण के द्वारा संसार की उन्नति की प्रक्रिया कह सकते हैं।

हम क्या नहीं देखते कि प्रत्येक देश में असंख्य समितियाँ और संस्थाएँ लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक बाधाओं को दूर करने के लिए खड़ी हो रही हैं ? यदि मन्दिरों और गिरजाघरों में उपस्थिति का अभाव है तो इसका मतलब यह है कि लोगों की आध्यात्मिक क्षुधा अपनी शान्ति के लिए दूसरे रास्ते खोज रही है। विगत पचास वर्षों में ही हम ऐसे कई संस्थानों को जन्म लिया देखते हैं जो आध्यात्मिक क्षेत्र में अपना कार्य कर रहे हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि यद्यपि आधुनिक मानव धर्म का दर्प के साथ विरोध करता है, तथापि स्वभाव से वह धार्मिक ही है।

फिर, एक बात और है। आजकल बहुत से झूठे मसीहा हैं। उनमें से प्रत्येक अपने लिए बहुत से अनुयायियों का दावा कर सकता है। घोर आश्चर्य की बात तो यह है कि उनमें से कुछ लोग ऐसे व्यक्तियों को अपना सहज शिकार बना लेते हैं जो स्वयं को अति सन्देहवादी, सजग और

तार्किक समझते हैं। अपनी बुद्धि पर अत्यधिक भरोसा रखने के कारण ऐसे व्यक्ति अपने आप अपनी तौहीनी कर बैठते हैं। जो लोग अपने संशयी स्वभाव के कारण दिन के उजेले में भूत देखते हैं, उनके लिए सूरज की चौंधियाती रोशनी गायब हो जाती है। पर हम उनके लिए बहुत अधिक तरस न खायें। उनकी शोचनीय अवस्था इसी बात की पुष्टि करती है कि हम अपनी आध्यात्मिक भूख को सहज ही नहीं दबा सकते। वह तो अपनी पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है। यदि हम उसके लिए उचित अवसर प्रदान न करें तो वह एक गलत रास्ते में निकल जायेगी। पर इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन कट्टरता को फिर से प्रश्रय प्राप्त होगा। नहीं, प्राचीन विश्वासों और धर्ममतों को नवीन परिधान ओढ़ना पड़ेगा, अन्यथा वे नयी आशाओं और आकांक्षाओं की माँगे नहीं पूरी कर सकेंगे और नये दृष्टिकोण के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकेंगे। अमेरिका के अत्यन्त प्रभावी उपदेशकों में से एक ने अपने यौवन के दिनों में कहा था, 'मैं विश्व सम्बन्धी अपनी पुरानी धारणा का त्याग कर रहा हूँ। मैं एक नयी धारणा के निर्माण में लगा हूँ जिसमें ईश्वर को कोई स्थान नहीं है।' और अपनी प्रौढ़ता के दिनों में जब उन्होंने उपदेश देना प्रारम्भ किया तो उनके रविवासरीय प्रवचन में दो-तीन हजार श्रद्धालु जन बड़ी उत्सुकता से भाग लेते थे। उनकी धारणा यह थी कि अक्षत योनि से ईसा का जन्म, बाइबिल का ईश्वरप्रेरित होना तथा यह विश्वास कि ईसा धधकते हुए बादलों पर बैठकर लौटेंगे, अब और अधिक न टिकेंगे। यदि लोगों से यह कहा जाय

कि 'इन सब बातों पर विश्वास करो अन्यथा निकल जाओ', तो ईसाई धर्म से इस पीढ़ी के कुछ बहुत अच्छे आत्मदानी, सेवाभावी व्यक्ति बाहर हो जायेंगे। चर्चों और अन्य संस्थाओं का इससे असहमति प्रकट करना यह सिद्ध करता है कि वे आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करतीं। अच्छी शराब को विज्ञापन की जरूरत नहीं होती। यदि धर्म की उपयोगिता है तो उसके विज्ञापन का प्रयोजन नहीं है। मनुष्य उसकी आवश्यकता अनुभव करके पृथ्वी के किसी कोने से उसे खोजकर निकाल ही लेंगे। यह बहुत सम्भव है कि जो लोग धर्म की बड़ी बड़ी बातें करते हैं वे नहीं जानते कि धर्म क्या है। वे गलत चीजों का लेन-देन करते हैं। इसलिये वे लोगों को आकर्षित नहीं कर पाते। अतएव उन्हें दुखी या निराश नहीं होना चाहिये।

क्या बहुत से लोग अनजाने ही धार्मिक नहीं होते ? कट्टर धर्मों के तंग दायरों से बाहर रहने वाले बहुत से लोगों का जीवन अपने उन भाइयों के जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है जो धार्मिकता का दिखावा लेकर जीवनयापन करते हैं। वृक्ष की परख उसके फलों से होनी चाहिए। नियमित रूप से चर्च जाने अथवा कड़ाई के साथ धार्मिक क्रिया-अनुष्ठानों का पालन करने मात्र से यथार्थ धार्मिक जीवन नहीं बन जाता; वह तो चरित्र का निखार है, हृदय की पवित्रता है, सेवा की भावना है और यदि आवश्यकता पड़े तो आदर्श के लिए सर्वस्व का उत्सर्ग है, जो धार्मिक जीवन का निर्माण करता है। यदि इस मापदण्ड से हम माप-जोख करें तो क्या कह सकते हैं कि संसार में ऐसे लोग हैं ही

नहीं ? क्या हम प्रत्येक देश में ऐसे लोग नहीं पाते जो अपने ऊँचे चरित्र के द्वारा पर्याप्त लोगों को अपना अनुगामी बना लेते हैं ? भले ही ऐसे लोग आम जनता के सामने नियमित रूप से प्रार्थना न करें, तथापि उन पर भगवान् की कृपा होने में भला क्या सन्देह है ?

जो लोग बिना समझे यह कहते हैं कि संसार अधार्मिक होता जा रहा है वे भूल जाते हैं कि विश्व को चलाने वाली शक्ति गिरजाघरों के ईंट-पत्थरों में कैद नहीं है, न ही वह मन्दिरों और मस्जिदों के सौन्दर्य और वैभव में है। वह तो दैवी है, ईश्वर की है। ईश्वर की आँखें सब कुछ देख लेती हैं। वह अपनी सृष्टि का संचालन करना भलीभाँति जानता है। जो ऊपर ऊपर से बुराइयाँ दीखती हैं, हो सकता है उनमें भलाई के अदृश्य बीज पड़े हों।

सागर में ज्वार और भाटे आते रहते हैं। चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती हैं तो घटती भी हैं। जीवन में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। मानव जाति के इतिहास पर भी यही बात लागू होती है। मानवता एक लम्बी यात्रा पर निकल पड़ी है। कभी कभी, हो सकता है, उसकी उन्नति स्पष्ट न दीख पड़े; कभी ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि वह गलत रास्ते पर चल पड़ी है, तथापि भूलों और प्रमादों में से होते हुए वह आगे की ओर ही बढ़ रही है, वह अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर ही पदविक्षेप कर रही है। इस तथ्य को अस्वीकार करना मानो ईश्वर के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है। और वह तो निश्चित रूप से अधार्मिक भावना का ही सूचक है।

—'प्रबुद्ध भारत' से साभार।

धर्म

राय साहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर

(गतांक से आगे)

ऊपर बतलाया गया है कि आर्य-धर्म के अन्तर्गत सिक्ख-धर्म, आर्य-समाज, ब्राह्म-समाज, राम कृष्ण धर्म भी हैं। इनके सिद्धान्तों का भी थोड़ा परिचय होना लाभप्रद होगा।

(१) सिक्ख-धर्म :— इस धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक देव थे। इन्होंने इस धर्म का प्रचार करके भारत वर्ष की सामाजिक और धार्मिक अवस्था की ही उन्नति नहीं की वरन् उनकी कृतियों द्वारा यहाँ की राजनैतिक अवस्था में भी सुधार हुआ। इनके बाद नौ गुरु और हुए, लेकिन गुरु गोविन्द सिंह के पश्चात् गुरु-गादी की प्रथा का अन्त हो गया और उसके स्थान पर दसों गुरुओं के उपदेशों का संग्रह करके एक गुरुग्रन्थ स्थापित किया गया, जिसका सिक्ख लोग अब पूजन करते हैं। इस धर्म में ईश्वर निराकार और निर्विकार है। उसके अनेक गुण हैं, जैसे सर्व-शक्तिमत्ता, न्यायाधीशता इत्यादि। मनुष्य का आत्मा अकाल परमात्मा का अंश है। जीव के लिए ईश्वर-प्राप्ति का सब से बड़ा साधन है भक्ति। भक्ति करने से भक्त को लोक सेवा, देशसेवा इत्यादि सभी अच्छे गुण प्राप्त हो जाते हैं। इस धर्म में भक्ति का महत्त्व इतना प्रबल है कि श्री ग्रंथसाहिब में जगह जगह पर आदेश किया गया है कि मनुष्य को ईश्वर के गुणों का

गान सदैव करते रहना चाहिए, जिससे भक्ति भाव की जड़ सदा हरी-भरी बनी रहे। इस धर्म में वीरता का भाव भी भरा है और सिक्खों का सैनिक रूप कायम रखने के लिये एक धार्मिक नियम बना दिया गया है कि प्रत्येक सिक्ख को पाँच प्रकार 'क' का पालन करना चाहिए। ये पाँच 'क' हैं—कच्छ, कड़ा, केश, कँघी और कृपाण। इस धर्म में अकेले शुभ कर्म कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि परमात्मा की भक्ति बिना शुभ कर्म तो मनुष्य को अहंकारी बना देते हैं, जिससे उसका पतन होजाता है। देखिये, सिक्खों की प्रार्थना कितनी सुगम, सूक्ष्म और सुन्दर है—

"एक ॐ, सतनाम कर्ता पुरुष, निर्भय निर्वैर, अकाल मूरत, अजूनी सोमं, गुरु प्रसाद जप; आदि सच, जुगादि सच है भी सच, नानक होसी भी सच। वाह गुरु"।

(२) आर्य समाजः—इस समाजके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं, जिन्होंने थोड़े ही समयमें हिन्दू-जाति को पाखंड की निद्रा से जागृत कर वेदों के असली महत्त्व को समझाया। स्वयं ब्राह्मण होते हुये भी, उन्होंने जन्मना वर्ण-व्यवस्था के स्थान में गुण, कर्म और स्वभाव से वर्ण-व्यवस्थाका प्रचार किया। प्रतिमा-पूजन, श्राद्ध और पुराणों का प्रमाण भी उन्हें स्वीकृत नहीं था। सन्ध्या और हवन करने पर उन्होंने अधिक ध्यान दिया। उन्होंने स्त्रियों और शूद्रों को भी वेद पढ़ने की आज्ञा दी और विधवा-विवाह का प्रचार किया। इस समाज के विचार में वेद सत्य विद्यायों की पुस्तक है। उसके अनुसार ईश्वर निराकार, अनादि,

प्रकाश स्वरूप, पूर्ण ज्ञानी और स्वतंत्र कर्ता है। वही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है, और सबको नियमबद्ध रखता है। जीवों के पापपुण्यों के फल का दाता भी वही है। वह जगत् का केवल निमित्त कारण है, क्योंकि उसका उपादान कारण तो प्रकृति है, जो अनादि है। जीव चेतन स्वरूप, अनादि और अनन्त है; परन्तु उसके गुण हैं— इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, मन, गति और अन्तर विकार। जीव प्रत्येक शरीर में परिच्छिन्न होता है। जीव और ब्रह्म एक हो नहीं सकते। सत्त्व, रज और तम तीनों के मिश्रण से प्रकृति बनती है। इस तरह यह सम्प्रदाय त्रित्व वादी है, यानी यह ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को सत्य मानता है। इस मत में मुक्त जीव सुख को प्राप्त होकर ब्रह्म में रहता है, और ३६००० बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त आनन्द भोगकर फिर पृथ्वी पर शरीर ले लेता है।

(३) ब्रह्म समाज—इस समाज के आदि प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उनके बाद देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशव चन्द्र सेन ने उसमें कई नई बातें सम्मिलित कर दीं। इस समाज के सिद्धान्त नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. परमात्मा व्यक्तिगत रूप में विद्यमान है। वह कभी अवतार नहीं लेता और वह मनुष्यों का पिता है।
२. परमात्मा प्रार्थना को सुनता है, इसलिये उसकी उपासना आध्यात्मिक रूप से ही करनी चाहिये। वह सत्-कर्मों के लिये अच्छा फल और पापों के लिये दण्ड देता है।

३. प्रकृति तथा मानसिक प्रेरणा के ही द्वारा परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।

४. जीवात्मा अमर है तथा वह सदैव उन्नति करता रहता है। पाप के लिये क्षमा तथा मोक्ष के लिये उसे पश्चाताप और पापों का परित्याग करना चाहिये।

ऊपर बतलाये हुए सिद्धान्तों में से अधिकांश विचार ईसाई धर्म से लिये गये हैं, और इसीलिये इस समाज का प्रचार बढ़ नहीं सका।

(४) रामकृष्ण धर्मः—इस समाज के अनुयायी मानव-धर्म के मानने वाले हैं। उनको किसी पंथ या संप्रदाय से द्वेष नहीं है। अधिकतर वे अद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं और लोक सेवा करना ही वे परम कर्तव्य समझते हैं। परमहंस श्रीरामकृष्ण का यह सिद्धान्त था कि सभी धर्म सत्य हैं। जब तक 'मैं' और 'तुम' यह द्वैत ज्ञान है, तब तक माया है। द्वैत ज्ञान नष्ट हो जाने पर ब्रह्म में स्थिति हो जाती है। ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग ये सब एक ही ईश्वर-तत्त्व के अनुभव करने के अलग अलग मार्ग हैं। ईश्वर के नाम अनन्त हैं; उनमें से किसी भी एक को पुकारने से वह निकट आ जाता है।

(५) ऊपर बतलाए हुए समाज कोई स्वतंत्र दर्शन या धर्म नहीं हैं। आधुनिक काल में जो बुराइयाँ आर्य-धर्म में प्रवेश कर गई थीं, उनको हटाने वाली ये संस्थाएँ हैं। इसी तरह प्राचीन काल में भी, यानी उपनिषद् के बाद के युग में जो समस्या थी वह यह थी कि "ब्रह्म का साक्षात्कार किस

प्रकार किया जा सकता है"। मीमांसकों का कहना था कि यज्ञादि क्रियाओं से इसकी सिद्धि होती है। परन्तु पशुओं की हत्या से परमात्मा की प्राप्ति क्योंकर होगी, इस पर किसी को विश्वास नहीं होता था। इस असंतुष्टता के कारण अनेक विरोधी दल खड़े हो गये जिन्होंने अपने अपने तर्कमूलक मतों का प्रचार किया।

श्री बल्देव उपाध्याय के 'भारतीय दर्शन' नामक पुस्तक में बतलाया गया है कि उस समय गोतमबुद्ध ने ब्रह्म साक्षात्कार का उपाय यह बतलाया कि मनुष्य को संसार में आवागमन के जो कारण होते हैं उन्हें निर्मूल करना चाहिए, यानी तृष्णा का उच्छेद करना चाहिए और सुन्दर सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहिये। उनका यह भी कहना था कि आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करने की कोई जरूरत नहीं। इसी तरह जैन धर्म के आचार्य तीर्थंकरों ने भी आचार-मार्ग पर विशेष जोर दिया और आचार विषयक समस्या को समझाने के लिए उन्होंने तत्त्वज्ञान का अन्वेषण कर निकाला। चूँकि बौद्ध तथा जैन दोनों दर्शनों का प्रभाव बहुत विस्तृत पड़ा और ये अभी तक जीवित हैं, उनके सिद्धांतों की रूप-रेखा नीचे दी जाती है।

(१) जैन धर्म :—इस धर्म में पाँच महाव्रत माने गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। जैन के मतानुसार जीव चैतन्यमय है और ज्ञान उसका लक्षण है। कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप ओझल रहा करता है। जीव शरीर से भिन्न है और नित्य होने पर

भी परिणामशील है। जहाँ अद्वैतवादी आत्मा को विभु मानते हैं और वैष्णव उसे अणु कहते हैं, जैन मध्यमार्ग को मानता है। इस तरह, जीव शरीर के परिमाण के अनुसार छोटा बड़ा होता है। फिर, जैसे जल में चलनेवाली मछलियों के लिये 'जल' सहकारी होता है, इसी प्रकार गतिशील जीव के लिये धर्म सहकारी कारण होता है। जैन दर्शन में ब्रह्म को न मानकर अपने सिद्धों को ही ईश्वर का स्थान दिया गया है। उसके अनुसार जगत् सत्य है और उसमें की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक हुआ करती है। इन वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान जिसको हो जाता है, उसे कैवल्य पदवी मिलती है। ज्ञान होने के लिये समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ध्यान देना पड़ता है। सम्यक् ज्ञान पाने के अतिरिक्त मोक्ष मिलने के लिये सम्यक् चरित्र भी होना चाहिये तथा तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रसिद्धान्तों में गहरी श्रद्धा होना भी आवश्यक है।

(२) बौद्ध-दर्शन—इस दर्शन के अनुसार आत्मा की वास्तविक सत्ता नहीं है। आत्मा नाम केवल व्यवहार के लिये दिया जाता है। इसलिए बौद्धों की नजर में वैदिक कर्मकाण्ड जो आत्मा के पारलौकिक सुखोत्पादन की चेष्टा में लगा रहता है, व्यर्थ और निष्फल है। आत्मा केवल शरीर, मन और मानसिक तथा भौतिक-प्रवृत्तियों का समुच्चय मात्र है। जैसे दीप शिखा देखने में अभिन्न मालूम होती है परन्तु असलमें क्षण क्षण में वह बदलती रहती है, इसी प्रकार जीव के जन्मान्तर का प्रवाह जारी रहता है। जैसे किसी नित्य

नदी का जल लगातार बहता रहता है, परन्तु जिस जल में हम एक बार प्रवेश कर स्नान करते हैं, वही जल उसी स्थान पर नहाने के पश्चात् दूसरे क्षण में वही पुराना अनुभूत जल नहीं रहता, इसी तरह आत्मा तथा जगत् भी अनित्य हैं। यह सिद्धान्त कुछ अंश तक तर्कसिद्ध भले ही प्रतीत हो, परन्तु इसमें त्रुटि इस बात की है कि यदि आत्मा अनित्य है, तो उसकी निर्वाण-अवस्था भी स्थायी नहीं हो सकती। इस त्रुटि को दूर करने के लिए बौद्ध लोगों का विचार है कि आत्मा की 'वासना' बनी रहती है और इस वासना के हटाने से ही सुख मिलता है। परन्तु इसमें शंका यह होती है कि जब वासना का आधार ही स्थायी नहीं तो वासना का अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

इसी तरह बौद्धों का यह भी सिद्धान्त है कि सृष्टि के पहिले ब्रह्म न होकर केवल शून्य था। इस शून्यवाद का खण्डन ब्राह्मण और जैन दोनों मतों के दार्शनिकों ने प्रबल युक्तियों द्वारा किया है, जिनके यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर में विश्वास तो हिन्दुओं के स्वभाव ही में है, इसलिये इस विषय पर पहिले जो कुछ लिखा गया है वही पर्याप्त है।

कर्तव्य शास्त्र के विषय में बुद्ध ने चार आर्य-सत्य माने हैं—

(१) दुःख—इसका अनुभव सबको होता है।

(२) दुःखों के कारण—ये बारह हैं—जरामरण, जन्म-लेना, पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म, आसक्ति, तृष्णा,

वेदना, स्पर्श, शरीर तथा मन के कार्य, चित्तधारा, विज्ञान, संस्कार और अविद्या।

(३) दुःख निवारण मार्ग—ये आठ हैं—आर्य सत्यों का तत्त्वज्ञान, दृढ़ निश्चय, सत्य वचन, हिंसा-द्रोह-दुराचरण रहित कर्म, न्यायपूर्ण जीविका, भलाई के लिए सतत उद्योग करना, लोभादि चित्तसंताप से अलग रहना और चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता।

(४) मुक्ति—ऊपर लिखे अनुसार दुखों के निरोध से निर्वाण मिल जाता है।

ऊपर दिये गये विवरण से मालूम हुआ होगा कि भारत-वर्ष में अनेक धर्म होते हुए भी उनमें एक प्रकार की सह-योगिता है। विभिन्न सम्प्रदायों में बाहरी भेद भले ही हों, परन्तु ध्येय सबका एक है, और वह यह कि मानव जाति का कल्याण किस सुगम रीति से किया जाय। यही आदर्श पाश्चात्य दार्शनिकों का भी है, परन्तु आत्मा के विषय में हमारी और उनकी कल्पना में बहुत अन्तर है, इसलिए हिन्दू धर्म उदार और सार्वभौमिक होते हुए भी विदेशी धर्मों का उसमें अभी तक समावेश नहीं किया जा सका। इसको स्पष्ट करने के लिए ईसाई और इस्लाम धर्मों के कुछ मूल सिद्धा-न्तों का यहाँ बतलाना अनुचित न होगा।

(१) ईसाई धर्म :—इस धर्म के अनुसार, ईसामसीह परमात्मा के पुत्र-रूप हैं। जैसे वैष्णव धर्म में ईश्वर की त्रिपुटी ब्रह्मा, विष्णु और महेश से होती है, उसी तरह ईसाई धर्म में परमात्मा की त्रिपुटी पिता रूप, पुत्ररूप और पवित्र

आत्मारूप में होती है। ईसामसीह मनुष्य और परमात्मा के बीच में मध्यस्थता करते हैं। मनुष्य परमात्मा की आकृति में बनाया गया है और उसमें चैतन्य शक्ति अर्थात् उसकी आत्मा परमात्मा की फूँक से प्रकट हुई है। प्रभु ईसा-मसीह ने खुद अपने को कुर्बान कराके सब मनुष्यों के पापों का बोझ अपने ऊपर उठा लिया है। इसलिये जो मनुष्य हजरत ईसा में विश्वास करते हैं वे कयामत के दिन जाग उठेंगे और मुक्त हो जायेंगे।

(२) इस्लाम धर्म—इसी तरह कुरान-शरीफ में कहा है कि "खुदा ने अपनी रूह आदम में फूँक दी और वह जीवित हो गया;" अर्थात् इस्लाम मत के अनुसार भी आत्मा अनादि नहीं है, वरन् श्वास मात्र है। इसी लिये ये दोनों मत पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते। ईसाई धर्म की विशेषता यह बतलाई जाती है कि वह कर्म-फल के अटल सिद्धान्त के बन्धन में नहीं है; यानी बुरे कर्म हो जाने पर भी यदि पापी पश्चात्ताप कर ले और ईसामसीह पर ईमान ले आये तो प्रभु उसके पापों को माफ कर देता है। शैवमत में और वैष्णवमत के कुछ संप्रदायों में उनके इष्टदेव में अनुग्रह के होने का सिद्धान्त माना गया है। इससे विदित होगा कि विदेशी धर्मों में कोई ऐसी विशेष बात नहीं है जो भारतीय तत्त्वज्ञान को अविदित हो।

इस्लाम धर्म की विशेषता यह कही जाती है कि वह सिवाय खुदा के और किसी दूसरी शक्ति को पूजने के योग्य नहीं समझता। यह ठीक है, परन्तु इस धर्म में हृदय की भाव-नाओं अथवा ज्ञान-द्वारा निश्चय का कोई स्थान नहीं है;

सच्चा मुसलमान वही व्यक्ति हो सकता है, जो कुरान-शरीफ में लिखे हुए आदेशों में विश्वास करे और हजरत मुहम्मद को खुदा का पैगम्बर समझे।

"गीता धर्म," काशी के 'विश्व धर्मांक' में महामना पं॰ मदनमोहन मालवीय जी ने एक लेख में बतलाया है :—

"सनातन धर्म बहुत उदार धर्म है। वह केवल मनुष्य मात्रही में भाईपन का भाव नहीं समझता, बल्कि यह मानता है कि सृष्टि में जितने जीव जन्तु आदि हैं, सब में एक परमात्मा की एक ज्योति प्रकाश कर रही है। गीता (५।१८) में समझाया है कि पण्डित लोग ब्राह्मण, हाथी, गौ, कुत्ते और चाण्डाल में समदर्शिता का भाव रखते हैं; और गीता (६-३२) में कहा है कि जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में समानता देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ है। इसी प्रकार गीता (४-११) में समझाया है कि लोग जिस प्रकार प्रभु को भजते हैं, प्रभु भी उनको वैसे ही भजता है। गीता की विशेषता यह है कि उसमें किसी प्रकार का पक्षपात किसी धर्म के लिये नहीं है। उसकी शिक्षा है कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने ही धर्म के सौंदर्य की ओर देखना चाहिये और उसी के अनुसार अपने जीवन को रूप देना चाहिये। गीता (३-३५) में तो यहाँ तक कह दिया है कि अच्छे प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी उत्तम है। गीता के ऐसे विचारों को देखकर लोक मान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' में बतलाया है

कि "गीताधर्म सर्वतोपरि निर्भय और व्यापक है।" अर्थात्, वह वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ता। वह अन्य सब धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है। वह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त है; और अधिक क्या कहें, वह सनातन वैदिक धर्म का अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। इसलिये इस प्रकरण में गीता-दर्शन का कुछ परिचय देना उपयुक्त होगा।

गीता दर्शन :—('भारतीय दर्शन' से)

"उपनिषद् काल के पश्चात् बहुत से विरोधी दल खड़े हो गये थे, जिन्होंने ऐसा प्रचार करना शुरू कर दिया कि किसी भी क्रिया का फल चाहे वह शुभ हो या अशुभ, कर्त्ता को भोगना नहीं पड़ता, क्योंकि मृत्यु के बाद, शरीर के भस्म हो जाने पर, कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। 'परलोक है या नहीं' यह भी अनिश्चित है। प्राणियों के क्लेश का उदय बिना किसी हेतु के ही होता है और वह बिना किसी हेतु के शांत भी हो जाता है। इसलिये न कर्म है और न वीर्य, इत्यादि। इस प्रकार के खोटे मतों के खण्डन करने की आवश्यकता हुई और उसकी पूर्ति गीता ने की।

इस ग्रंथ में अनेक मतों का उपयोग कर, एक परम रमणीय साधन मार्ग की व्यवस्था की गई है। गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को मानती है। ब्रह्म सब प्रकार के देहादिक सम्बन्धों से रहित रहकर भी सबको धारण करता है। वह निर्गुण होते हुये भी गुणों का भोक्ता है। वह जगत् की उत्पत्ति करता है तथा उसका लय-स्थान भी

है। वह समस्त प्राणियों में वास करता है। भगवान के दो भाव हैं; अपर और पर। अपर का दूसरा नाम है क्षेत्र या क्षर पुरुष और परा प्रकृति से तात्पर्य जीव से है। आत्मा के बारे में गीता का विचार है कि वह नित्य है। अजन्मा, शाश्वत और प्राचीन होने पर भी नवीन है। वह षड्वि-कारों से रहित है। वह प्रारब्ध-भोग द्वारा जीर्ण शरीर को छोड़कर नये शरीर में जाता है। जीव नाना न होकर एक ही है। वह परमेश्वर का सनातन अंश है। भगवान् सब भूतों का सनातन, अविनाशी बीज है।"

गीता की दृष्टि में जगत् मायिक न होकर सर्वथा सत्य तथा वास्तविक है। पुरुषोत्तम-तत्त्व भगवद्गीता का महत्त्व-पूर्ण रहस्य है। इसी पुरुषोत्तम को सर्वकर्मसमर्पण कर देने की शिक्षा गीता देती है।

गीता में मानवी प्रकृति की भिन्नता का विचार करके त्रिविध उपायों की व्यवस्था की गई है। चिन्तन के प्रेमी साधक ज्ञान मार्ग से, सांसारिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्म मार्ग से और अनुरागादि वृत्तियों का व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है। गीता में इन तीनों मार्गों का भली भाँति समन्वय किया गया है। गीता के साधन मार्ग का आरम्भ निष्काम कर्म से तथा पर्यवसान शरणागति से है। फिर नियमपूर्वक ध्यानयोग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। भक्ति दृढ़ हो जाने पर ज्ञान होता है, जिससे भगवान् का स्वभाव और स्व-रूप जाना जाता है। इस प्रकार ज्ञान होने पर अर्थात् आत्मा

को जान लेने पर ज्ञानी जीवन्मुक्त हो जाता है, जो गीता के अनुसार मानव-जीवन का आदर्श है।

ऊपर बतलाई हुई विधि इतनी सीधी और सच्ची है कि किसी भी धर्म के अनुयायी को उसपर विरोध नहीं हो सकता। यही कारण गीता की लोकप्रियता का है। इसमें ऊँचे से ऊँचे, निश्पक्ष, सुलभ और गम्भीर उपदेश भरे हैं। महात्मा गाँधी तो हमेशा कहते थे, "जब जब मुझे संकट पड़ते हैं, तब तब उन्हें टालने के लिये मैं गीता के पास दौड़ जाता हूँ। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं है, जिसे गीता हल न कर सके।"

वर्तमान परिस्थिति के अनुसार, गीता में शाहीवाद, राष्ट्रवाद और साम्यवाद के मूलतत्त्व भी मिलते हैं, जिससे नैतिक क्षेत्र में भी गीता के संदेश लाभ प्रद हैं। सारांश यह कि इस अनुपम ग्रन्थ में हर प्रकार की व्यक्तिगत अथवा सामाजिक, मानसिक अथवा हार्दिक कामनाओं की पूर्ति के व्यावहारिक और सुगम नियम बतलाए गए हैं, जिससे सबको शांति और आनन्द मिले। एक मुमुक्षु को इससे अधिक और क्या चाहिए? महात्मा गाँधी ने नव-जीवन में लिखा है कि "गीता और तुलसीदास की रामायण के संगीत से जो स्फूर्ति और ओजस्विता मुझे मिलती है, वैसी और किसी ग्रन्थ से नहीं मिलती।"

(समाप्त)

गुरू नानक

श्री रामेश्वर नन्द

पुण्यभूमि भारत में प्रत्येक युग में युगानुकूल शिक्षा प्रदान करने तथा मार्गदर्शन करने के लिए अवतारों, महापुरुषों एवं गुरुओं का अविर्भाव होता रहा है। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में अवतारों को तो ईश्वरतुल्य समझा ही गया है, किन्तु गुरुओं का भी पर्याप्त महत्त्व रहा है और गुरू की ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में वन्दना की गई है। गुरू-पूजा की दृष्टि से सिक्ख-धर्म का विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार हिन्दू लोग अवतारों की पूजा करते हैं उसी-प्रकार सिक्ख लोग अपने गुरुओं की अर्चना करते हैं। आज तक सिक्ख-धर्म के अन्तर्गत अनेक गुरु हो चुके हैं, किन्तु उन सबमें सिक्ख धर्म के प्रवर्तक और प्रथम गुरु नानक का विशिष्ट स्थान है।

गुरु नानक के जन्म के चार शताब्दी पूर्व से ही भारत में विदेशियों का आक्रमण शुरू हो गया था। ये यवन आक्रामक स्वभावतः क्रूर और बर्बर थे। इन्होंने भारतीय धर्म और समाज पर जितना अत्याचार किया है उसकी तुलना संसार की बहुत कम घटनाओं से की जा सकती है। इन अत्याचारों का श्री गणेश गजनी सम्राट् शहाबुद्दीन के द्वारा होता है। उसने तत्कालीन दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान की बड़ी क्रूरता से हत्या करा दी थी। अजमेर के हजारों

निरीह व्यक्तियों का वध कराना तथा सैकड़ों को दास बना लेना भी उसी का काम था। अत्याचार की शृंखला में कुतुबुद्दीन तुगलक अपना नया नाम जोड़ता है। इस नृशंस आक्रांता ने मेरठ के सभी मंदिरों को तुड़वा दिया था तथा अलीगढ़ में इसकी आज्ञा से उन सभी व्यक्तियों के सिर काट लिए गये थे जिन्होंने मुसलमान बनना स्वीकार नहीं किया था। इतना ही नहीं, कालिंजर में उसने १३६ मंदिरों को भग्न करा दिया, एक लाख व्यक्ति कत्ल कर दिये गए तथा पचास हजार व्यक्तियों को दास बना लिया गया। इसके द्वारा बहायी गयी खून की धारा सूखने भी नहीं पाई थी कि अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा पुनः नरहत्या, लूट और अत्याचार का दौर शुरू कर दिया। गया इसके बाद बाबर का शासन-काल आता है। मुगलों के शासन काल में यात्रा-कर, तीर्थ-कर, धार्मिक मेलों और उत्सवों पर कठोर प्रतिबन्ध, नए मंदिरों के निर्माण एवं प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार पर रोक, हिन्दू-धर्म तथा समाज के नेताओं का दमन और मुसलमान बन जाने पर पुरस्कार — इन सब उपायों से भारतवासियों का यथासम्भव दमन किया गया।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों में हिन्दुओं का अनुदार वर्ग अपने धर्म की रक्षा करने के लिए और भी अनुदार हो गया। एक ओर तो धार्मिक कट्टरता बढ़ रही थी तो दूसरी ओर धार्मिक संकीर्णता की भी वृद्धि हो रही थी। अपने युग की धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन गुरु नानक ने निम्नोक्त पंक्तियों में किया है :

"कलि काते राजे कसाई, धरमु पंख करि उडरिया,
कूडु अमावस सचु चन्द्रमा, दीसै नाही कह चड़िया ।
हउ भालि विकुँनी होई । आधै रै राहु न कोई ।
विचि हउ मैं करि दुखु रोई । कहु नानक किनि बिधि गति होई ॥

अर्थात् "कलियुग का समय छुरी की धार के समान है । इसका शासन कसाई करते हैं । धर्म पँख फैलाकर कहीं उड़ गया है । इस काली अमावस्या की रात में सत्य का चन्द्रमा कहाँ उदित हुआ है, पता नहीं । मैं उस चन्द्रमा को खोज-खोज कर व्याकुल हो गया हूँ । अँधकार में रास्ता नहीं सूझता । मैं बीच में खड़ा रो रहा हूँ । हे नानक, इस भयानक स्थिति से छुटकारे का उपाय कहो ।"

इसीप्रकार उन्होंने तत्कालीन धार्मिक जीवन का भी चित्रण निम्न शब्दों में किया है :

"अखी त मीटहि नाक पकड़हि ठगण कउ संसारु ॥१॥
आँट सेती नाकु पकड़हि सूझते तिनि लोअ ।
मगर पाछै कछु न सूझै एहु पदमु अलोअ ॥२॥
खत्रीआ त धरमु छोडिया मलेछ भाखिया गही ।
स्रसटि सम एक बरन होई धरम को गति रही ॥३॥"

अर्थात् "लोगों को ठगने के लिए पाखण्डी ब्राह्मण आँख बन्द कर नाक पकड़ते हैं । अँगूठे और उँगलियों से नाक पकड़ने से इन्हें तीनों लोक का ज्ञान हो जाता है किन्तु पीछे रखी हुई वस्तु का ज्ञान नहीं होता । यह कैसा अनोखा पद्मासन है । क्षत्रिय क्षात्र-धर्म छोड़कर म्लेच्छों के दास हो

गए हैं। सारा संसार एक-सा दूषित हो गया है तथा धर्म विलीन हो गया है।"

ऐसी ही दयनीय दशा स्त्रियों की भी थी। 'एसेज़ इन सिक्खिज्म' में श्री तेजासिंह ने लिखा है, "मुसलमानों के शासन काल में भारतीय नारियों पर किया जाने वाला अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। यह बड़ी चिन्ताजनक बात थी कि उनका सम्मान उनके परिवार में ही समाप्त हो गया था। वे अमरत्व-प्राप्ति की साधना के समस्त अधिकारों से वंचित कर दी गई थीं। उनका कोई निजी कर्म नहीं रह गया था। वे आध्यात्मिक उत्तराधिकार से हीन थीं। उनका कोई अधिकार नहीं था। उनके लिए वेदों और शास्त्रों का अध्ययन वर्जित कर दिया गया था। घर की देखभाल ही उनकी साधना थी तथा इसीसे उन्हें संतोष करना पड़ता था।" गुरुनानक का भी ऐसा ही विचार था कि "स्त्रियाँ मूर्ख हो गई हैं और पुरुष अत्याचारी हो गए हैं। लोग शील, संयम और पवित्रता को छोड़कर अखाद्य-भक्षण करने लगे हैं। लज्जा उठकर अपने घर चली गई है। उसके साथ प्रतिष्ठा भी चली गई है। लोगों में लज्जा और प्रतिष्ठा की भावना लुप्त हो गई है।"

गुरु नानक जिस युग में पैदा हुए थे वह युग सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अन्य सभी दृष्टियों से अन्धकार-पूर्ण, निराशाजनक और शक्तिहीन था। मुसलमान तो अत्याचारी थे ही, किन्तु सवर्ण हिन्दू भी शूद्र एवं निम्न जातियों पर कुछ कम अत्याचार नहीं कर रहे थे। उनके

स्पर्श मात्र से ही कुलीन लोग अपवित्र हो जाते थे, उनकी जाति चली जाती थी और उनके देवस्थान दूषित हो जाते थे। वे धर्मशास्त्र पढ़ने के अधिकारी नहीं थे और न वे मंदिरों में प्रवेश ही कर सकते थे। गुरु नानक ने सवर्णों को ताड़ना देते हुए कहा था, "जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे।" अर्थात्, 'जाति मत पूछो प्रत्युत सभी में स्थित परमात्मा के ज्योति की दर्शन करो। पहले तो कोई जाति नहीं थी।'

गुरु नानक हिन्दुओं के साथ मुसलमानों की भी कड़ी आलोचना करते हैं। वे कहते हैं, "मुसलमान काजी और दूसरे हाकिम तो आदमखोर और रिश्वतखोर हैं पर वे नमाज भी पढ़ते हैं। इन हाकिमों और काजियों के मुंशी ऐसे खत्री हैं जो यद्यपि जनेऊ पहने हुए हैं किन्तु वे लोगों के गले में छुरी चलाते हैं औरअत्याचार करते हैं। ब्राह्मण लोग ऐसे अत्याचारियों के घर जाकर शंख फूँकते हैं और उनकी कमाई खाते हैं। उन लोगों की पूँजी और व्यापार झूठ का है। लज्जा और धर्म के डेरे उठ गए हैं। हे नानक! झूठ सभी स्थानों में फैल गया है।"

गुरु नानक अत्याचार और गुलामी के घने अंधकार में मृतप्राय हिन्दू जाति के लिए नया आलोक, अभिनव उत्साह और नवीन जीवन का संदेश लेकर अवतरित होते हैं। उनका जन्म सन् १४६९ ईस्वी में गुजराँवाला जिले के तलवाड़ी नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता का नाम कालू था और उनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक के

अतिरिक्त कालू के नानकी नामक एक कन्या थी। यद्यपि नानक के जन्मके सम्बन्ध में अनेक विवाद हैं, फिर भी अधिकांश सिक्ख कार्तिक पूर्णिमा को उनका जन्मोत्सव मनाते हैं। नानक के जन्म के उपरान्त प्रथानुसार उनके पिता ने अपने कुल पुरोहित और ज्योतिषी पण्डित हरदियाल को शिशु की जन्म-पत्रिका बनाने के लिए बुलाया। शिशु की विलक्षणताओं को देखकर कुलपुरोहित ने भविष्यबाणी की, "यह साधारण बालक नहीं है। बड़ा होकर यह छत्रपति बनेगा। हिन्दू और मुसलमान दोनों इसके भक्त होंगे। यह महान् युगपुरुष होगा। फिर अपने अश्रु पोंछते हुए वृद्ध ज्योतिषी ने कहा, "लेकिन यह सब देखने का मुझे सौभाग्य नहीं मिलेगा।"

यद्यपि गुरु नानक के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता तथापि लोकश्रुति के आधार पर उनके जीवन की अनेक घटनाओं का ज्ञान मिलता है। सात वर्ष की अवस्था में नानक को विद्याध्ययन के लिए पाठशाला भेजा गया किन्तु पढ़ने के स्थान पर बालक नानक ने अपने शिक्षक को ही पढ़ाना शुरू कर दिया। उनकी गूढ़ आध्यात्मिक बातों से प्रभावित होकर शिक्षक का मस्तक श्रद्धा और भक्ति से झुक गया और उन्होंने उनके पिता के समक्ष उन्हें पढ़ाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। कुछ समय तक नानक की पढ़ाई घर पर ही होने लगी किन्तु बाद में उन्हें पढ़ाने के लिए एक फारसी का जानकार शिक्षक लगाया गया। फारसी के शिक्षक के साथ भी वही घटना घटी और वे नतमस्तक हो गए।

पुत्र की पढ़ाई-लिखाई से निराश होकर उनके पिता ने उन्हें भैंस चराने का काम सौंपा। किन्तु नानक का ईश्वरानुरागी मन भला भैंसों की देखभाल कैसे करता। वह तो सदैव ईश्वर का चिन्तन करता रहता था। एक दिन उनकी आँखें लग गईं और उनके भैंसों ने एक किसान का खेत चर लिया। जब इस बात की शिकायत वहाँ के हाकिम रायबुलर से की गई तब उन्होंने नानक को बुला भेजा। नानक ने दृढ़तापूर्वक कहा कि खेतों को उनकी भैंसों से कोई नुकसान नहीं पहुँचा है। जब इस बात की जाँच की गई तो शिकायतकर्ता और हाकिम दोनों यह जानकर आश्चर्यचकित हो गये कि खेत ज्यों के त्यों थे तथा फसल को कुछ भी हानि नहीं हुई थी। इस घटना के बाद रायबुलर की श्रद्धा नानक पर बढ़ गई।

समय जानकर कालू ने अपने पुत्र के यज्ञोपवीत-संस्कार की व्यवस्था की। इस समय नानक केवल नौ वर्ष के थे। ज्योंही कुलपुरोहित हरदियाल जनेऊ लेकर आगे बढ़े वैसे ही नानक ने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा, "दया को रुई, संतोष को धागा और संयम को गाँठ बनाइये। उसे सत्य से बँटिये। वही आत्मा के लिए सच्चा जनेऊ होगा। हे विप्र! यदि आपके पास ऐसा जनेऊ हो तो मुझे आप प्रदान कीजिये। यह न तो टूटेगा और न अपवित्र होगा, न जलेगा और न ही गुमेगा। आप इस चार दमड़ी के धागे को जनेऊ कहते हैं! यह तो मनुष्य की मृत्यु के साथ यहीं छूट जाता है और आत्मा अकेली चली जाती है।" कुलपुरोहित ने नानक को

जनेऊ की उपयोगिता समझाने का बहुत प्रयास किया। किन्तु नानक पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

समय बीतता गया और नानक की साधना गहन से गहनतर होती गई। जब उनके माता-पिता ने देखा कि पुत्र का मन संसार में नहीं लग रहा है तो उन्होंने सोचा कि सम्भवतः विवाह कर देने से उसका झुकाव संसार की ओर हो जाएगा। अतः चौदह वर्ष की आयु में उनका विवाह सुलक्खनी नामक कन्या से कर दिया गया। किन्तु विवाह से उनके माता-पिता की आशा पूरी नहीं हुई। नानक पूर्व-वत् भैंस चराने जाया करते और पेड़ की छाया में बैठकर ईश्वर चिन्तन किया करते। एक बार रायबुलर ने देखा कि नानक एक पेड़ की छाया में निद्रामग्न हैं और उनके सिर के ऊपर एक बड़ा भारी साँप फन काढ़े छाया कर रहा है। उन्होंने यह भी देखा कि पेड़ की छाया सूरज या समय के साथ इधर-उधर न होकर स्थिर है। इस घटना से आश्चर्य चकित होकर रायबुलर ने नानक के पिता को बुलाकर सारा वृत्तान्त सुनाया और कहा, "तुम्हारा पुत्र साधारण लड़का नहीं है। तुम धन्य हो जिसे उसके समान पुत्र मिला है।'

ईश्वरीय चिन्तन में निरन्तर लगे रहने के कारण नानक को सारा जगत् ईश्वरमय प्रतीत होता था। किन्तु जैसे-जैसे नानक के मन में वैराग्य और भक्ति की भावना गहरी होती जाती थी वैसे-वैसे उनके पिता की चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी। नानकी का विवाह करके उनकी कुछ चिन्ता तो कम हो गई थी किन्तु वे अपने पुत्र को भी जीवन-निर्वाह करने में

समर्थ बनाना चाहते थे। एक दिन जब उन्होंने नानक से खेत में काम करने के लिए कहा तब नानक ने उत्तर दिया, "अपने शरीर को खेत समझिये और अच्छे कार्यों को बीज। इसे भगवान् के नाम से सींचिए। अपने हृदय को किसान बनाइये। इसमें ईश्वर अंकुरित होंगे और आपको निर्वाण की फसल मिलेगी। मैंने अपना खेत बो लिया है और मेरी फसल तैयार है। मैंने तो ऐसा बीज बोया है जिससे अपने-पराये सभी का कल्याण होगा।" नानक की बात सुनकर अच्छा,कालू ने कहा, "तो तू दूकान ही कर।" नानक ने फिर कहा "केवल यही ज्ञान प्राप्त कर लीजिए कि जीवन एक क्षण-भंगुर दूकान है जिसमें ईश्वर ही असली माल है। यदि केवल सत्य नाम से सज्जन व्यक्तियों से लेन-देन किया जाय तो बड़ा लाभ होगा।" अन्त में खीझकर उनके पिता कह बैठे, "तू तो हमारे लिए बरबाद हो गया।"

नानक के असाधारण व्यवहार को देखकर उनके माता-पिता के मन में यह आशंका हुई कि कहीं उनका पुत्र पागल तो नहीं हो गया है। उन्होंने एक वैद्य को बुलाकर अपने पुत्र की परीक्षा करने के लिए कहा। वैद्य ने आकर नानक से पूछा, "तुम्हें क्या कष्ट है? नानक ने कहा, "पहला कष्ट तो भगवान् के वियोग का है। दूसरा कष्ट है उनके ध्यान की भूख। मुझे मृत्यु का भी भय है और इस बात का भी भय है कि यह शरीर नश्वर है। अहो अज्ञानी वैद्य, मुझे किसी औषधि की आवश्यकता नहीं है। उनके (ईश्वर के) नाममात्र से मेरे सभी कष्ट दूर हो जाएँगे।" वैद्य ने परीक्षा

करके देखा तो उसे मालूम हुआ कि उन्हें कोई बीमारी नहीं है तथा वे पूरी तरह से स्वस्थ हैं।

नानक के विवाहित जीवन के सम्बन्ध में अधिक विवरण नहीं मिलता। उनके श्रीचन्द और लखमीदास नामक दो पुत्र हुए थे। किन्तु नानक का मन संसार की ओर आकृष्ट नहीं हो सका। अंत में नानक के पिता ने उन्हें अपने मित्र जयराम के पास भेज दिया ताकि वे उन्हें कोई काम दिला सकें। जयराम के प्रयत्नों से नानक को गवर्नर दौलत खाँ के यहाँ नौकरी मिल गई। नानक ने अपनी कार्यकुशलता से दौलत खाँ को शीघ्र ही प्रभावित कर लिया। उन्होंने अपने प्रिय मित्र और शिष्य मर्दाना को भी अपने पास बुला लिया तथा अन्य सत्संगी भी जुट गये। मर्दाना मुसलमान था। नानक के कहने पर दौलत खाँ ने मर्दाना तथा अन्य व्यक्तियों को भी नियुक्त कर लिया। अब नानक का समय आनन्द में व्यतीत होने लगा। दिन-भर वे भजन-कीर्तन करते और भगवान् के संकीर्तन में रातें बिता दिया करते। नानक प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठकर दैनिक कर्मों से निवृत्त होने के लिए जंगल की ओर निकल जाया करते थे। शौचादि कर्मों को सम्पन्न कर वे नदी में स्नान करते और फिर घर लौटते थे। किन्तु एक दिन नानक समय पर जंगल से घर नहीं लौटे। वह दिन उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण दिन था। इसी दिन इन्हें साक्षात् ईश्वर के दर्शन हुए थे। इस समय वे इकतीस वर्ष के थे। भगवान् ने नानक को अमृत का पात्र देते हुए कहा था, "हे नानक, मैं तुमसे अत्याधिक

प्रसन्न हूँ। जो भी तुम्हारा या मेरा नाम लेगा उससे भी मैं प्रसन्न रहूँगा। तुम अनासक्त भाव से संसार में रहना तथा पवित्रतापूर्वक मेरा नाम जपकर और मेरी भक्ति करते हुए अपना जीवन बिताना। अन्य लोगों को भी तुम यही शिक्षा देना।" ईश्वर के दर्शन से विभोर होकर नानक गाने लगेः—

"कोटि कोटि मेरी आरजा पवणु पिअणु अपिआउ।
चंदु सुरजु दुई गुफै न देखा सुपणै सउण न थाउ॥
भी तेरी कीमति ना पवै हउ केवडु आखा नाउ॥१॥
साचा निरंकारू निज थाइ......
नानक कागद लख मणा पड़ि पड़ि कीचै भाउ।
मसू तोटि न आवई लेखणि पउणु चलाउ॥
भी तेरी कीमति ना पवै हउ केवडु आखा नाउ॥२॥"

अर्थात् "हे प्रभु! भले ही मेरी आयु करोड़ों वर्ष की हो जाय और मैं पवन पीकर जीता रहूँ, भले ही मैं ऐसी गुफा में बैठ जाऊँ जिसे सूर्य और चन्द्र देख भो नहीं सकें और सपने में भी नींद न आये तो भी तुम्हारा मूल्य नहीं आँका जा सकता — तुम्हारे नाम की महत्ता को नहीं बताया जा सकता। एक लाख मन कागज पर लेखनी को कभी न सूखने वाली स्याही में डुबोकर पवन की गति से अनन्त काल तक क्यों न चलाया जाय फिर भी तुम्हारी कीमत नहीं बताई जा सकती, तुम्हारी महिमा को नहीं आँका जा सकता।"

ईश्वरोपलब्धि के उपरान्त नानक गुरु के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। उनका नाम और यश हिन्दुओं और मुसलमानों

के बीच समान रूप से फैल चला। उनके भक्तों की संख्या दिनों-दिन बढ़ने लगी। गुरु नानक ने अपना सारा समय ईश्वरचिन्तन में लगाने के लिए नौकरी छोड़ दी और मर्दाना तथा अन्य शिष्यों के साथ पर्यटन करने निकल पड़े। भारतीय संतों में गुरु नानक ही ऐसे थे जिन्होंने मक्का, मदीना और बगदाद तक की यात्रा की थी। इस यात्रा के बीच अनेक ऐसी घटनायें घटी जिनसे मुसलमान भी उन्हें ईश्वर-कोटि समझने लगे। एक बार वे शयीदपुर में एक निर्धन बढ़ई लालो के मेहमान बने। लालो की निर्मलता और भक्ति-भाव से आकर्षित होकर उन्होंने अपना नियम तोड़कर पन्द्रह दिनों तक उसका आतिथ्य स्वीकार किया। उसी बीच उस गाँव के मुसलमान शासक ने सारे गाँव के हिन्दुओं और मुसलमानों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। गुरु नानक को निमंत्रण देते हुए ब्राह्मण ने कहा, "आपको भी भोजन के लिए निमंत्रित किया गया है। आज चारों वर्णों के हिन्दुओं को निमंत्रण दिया गया है।" इस पर नानक बोले, "मैं तो इनमें से किसी भी वर्ण का नहीं हूँ फिर मुझे क्यों बुलाया गया है?" जब मुसलमान शासक मलिक भागो को इसकी सूचना मिली तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा और उसने गुरु नानक से इसका स्पष्टीकरण माँगा। स्पष्टीकरण देने के लिए नानक ने एक मुट्ठी में लालो के यहाँ का खाद्य पदार्थ और दूसरी मुट्ठी में भागो के यहाँ का भोजन रखकर अपनी मुट्ठियाँ दबाईं। लोगों ने आश्चर्य से देखा कि जिस मुट्ठी में लालो की सूखी रोटियाँ दबी थीं

उसमें से दूध की धारा बह निकली और जिस मुट्ठी में भागो के यहाँ के पकवान दबे थे उसमें से खून निकलकर बहने लगा। इसका कारण स्पष्ट था। लालो का भोजन ईमान की कमाई का था जबकि मलिक भागो ने बेइमानी से धन कमाया था।

कुछ वर्षों के बाद गुरु नानक पुनः शयीदपुर पहुँचे। उस समय वहाँ के क्षत्रियों ने गुरु नानक के मुसलमान फकीरों के से वस्त्र को देखकर उनका काफी परिहास किया। गुरु नानक इस बार एक कोढ़ी के अतिथि बने। उनके पुण्य प्रताप से वह रोगी पूर्ण स्वस्थ हो गया। इसी समय बाबर ने आक्रमण किया तथा गुरु नानक और मर्दाना को कैद कर लिया। उनसे गुलामों की तरह कठिन काम लिया जाने लगा। किन्तु नानक को सौंपा गया कार्य ईश्वरीय शक्ति से आप से आप सम्पन्न हो जाता था और वे सर्वदा भजन गाते रहते थे और मर्दाना रबाब बजाता रहता था। एक दिन बाबर के सेनापति मीर खाँ ने देखा कि गुरु नानक के सिर पर रखा हुआ लकड़ी का गट्ठर एक हाथ ऊपर उठ गया है और जिधर गुरु नानक जा रहे हैं उधर ही वह गट्ठर भी जा रहा है। उसने यह भी देखा कि मर्दाना रबाब बजाने में तल्लीन है और उसके जिम्मे सौंपा गया घोड़ा एक आज्ञाकारी सेवक की तरह उसके पीछे-पीछे चला जा रहा है। यह देखकर मीर खाँ को बड़ा अचरज हुआ। उसने तत्काल ही बाबर को इस आश्चर्यपूर्ण घटना की सूचना दी। बाबर गुरु नानक की महिमा को देखकर अत्यन्त प्रभावित्त हुए और गुरु नानक को उनके भक्तों के साथ मुक्त कर दिया।

गुरु नानक ने अनेक लम्बी यात्राएँ की थीं। वे पुरी, हरिद्वार, बनारस आदि तीर्थों का भ्रमण कर चुके थे। स्थान-स्थान पर पण्डितों, शास्त्रज्ञों और मौलवियों से उन्होंने धर्म-चर्चा और शास्त्रार्थ किया था। जहाँ भी वे पाखण्ड या भ्रष्टाचार देखते, वहाँ वे उसकी जमकर आलोचना करते थे। घूमते-घूमते गुरु नानक कामरूप पहुँचे। वहाँ की रानी ने उन्हें अपने यौवन और रूप के मोहपाश में बाँधने के सभी सम्भव प्रयास किये। किन्तु जब गुरू नानक को मोहित करने में उसकी समस्त तांत्रिक और यांत्रिक चेष्टाएँ विफल हो गईं तब वह उनके चरणों में गिर पड़ी। एक बार गुरु नानक हिमालय प्रदेश में भ्रमण कर रहे थे। जब वे जंगल से होकर जा रहे थे उसी समय एक अत्यन्त भयावना पुरुष प्रकट हुआ। यह कलियुग था। उसने गुरु नानक को तीनों लोकों के राज्य और उसकी सम्पदा का प्रलोभन दिखाया और अनेक सौन्दर्यवती युवतियों के द्वारा उन्हें भक्ति के पथ से विचलित करने का प्रयास किया किन्तु गुरू नानक कलियुग की सभी परीक्षाओं में अविचल रहे। हार कर कलियुग ने भी उन्हें प्रणाम किया और लौट गया।

भ्रमण करते करते बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। यात्रा की कठिनाइयों से मर्दाना घबरा चुका था। उसने गुरु नानक से कहा, "आपकी भक्ति और आपका कार्य धन्य है! आप तो महापुरुष हैं! आपको न तो भूख सताती है और न प्यास ही लगती है। आप न तो भोजन करते हैं, न पानी पीते हैं और न किसी गाँव में प्रवेश ही करते हैं। पर मैं यह

सब कैसे कर सकता हूँ और ऐसी स्थितिमें आपके पास अधिक दिनों तक कैसे रह सकता हूँ?" गुरू नानक मर्दाना की भक्ति से परिचित थे। उन्होंने उससे कहा, "जा, अब तुझे भी भूख-प्यास नहीं लगेगी। मैं तुझे आश्वासन और वचन देता हूँ कि तेरा इहलोक और परलोक दोनों में कल्याण होगा।"

धीरे-धीरे गुरू नानक के शिष्य बढ़ चले। उनकी शिक्षा का दूर-दूर तक प्रचार हो गया। गुरू नानक ने अनुभव किया कि अब उनका अन्तिम समय निकट आ गया है। इस समय वे उनहत्तर वर्ष के थे। आश्विन शुक्ल दशमी के दिन सन् १५३७ ईस्वी में अपनी गद्दी अपने शिष्य अंगद को सौंपकर उन्होंने देह का त्याग कर दिया। जब उनके शिष्यों के द्वारा उनके शरीर पर पड़ी चादर को उठाया गया तो उन्हें वहाँ केवल फूलों का एक ढेर दिखाई दिया। उनके हिन्दू और मुसलमान शिष्यों ने अपनी-अपनी प्रथा के अनुसार आधा-आधा फूल लेकर जलाया और दफ़ना दिया यद्यपि दोनों धर्म के मानने वाले शिष्यों ने रावी नदी के तट पर गुरू नानक की समाधि और उनका मकबरा बनाया था, किन्तु समाधि और मकबरा दोनों आज बाढ़ में बह चुके हैं।

गुरू नानक एक आदर्श गृहस्थ और योगी थे। देह-त्याग करने के कुछ वर्ष पूर्व वे करतारपुर में आकर बस गये थे। उनकी पत्नी और उनके दोनों पुत्र भी वहाँ उनके साथ थे। गृहस्थ एवं अध्यात्म में ताल-मेल रखते हुए उन्होंने

शिष्य - निर्माण, सत्संग और धर्मोपदेश का कार्य निरन्तर सम्पन्न किया था। वे सहज योगी थे। उन्होंने तो त्याग का भी त्याग कर दिया था। वे क्रान्तिकारी, दूरदर्शी और समाज संस्कारक थे। गुरु नानक के समय करतारपुर में जाति-पाँति का कोई भेद भाव नहीं था। हिन्दू-मुसलमान, ऊँच और नीच सभी समान भाव से वहाँ निवास करते थे। इतिहासकार कनिंघम ने उनके सम्बन्ध में लिखा है, "गुरुनानक देव अपूर्वधर्म सुधारक, महान् देशभक्त, प्रचण्ड रूढ़ि विरोधी और विलक्षण युगपुरुष थे। इसके साथ उनके हृदय में वैराग्य और भक्ति की सरिता सदैव प्रवाहित होती रहती थी और उनके मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य सतत प्रकाशित होता रहता था।" गुरु अर्जुनसिंह के मत से वे "परमात्मा की प्रतिमूर्ति" थे।

स्वामी विवेकानन्द - जीवन और कृतित्व

श्री ब्रजबिहारी निगम, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इन्दौर

ठीक सौ वर्ष पूर्व, सन् १८६३ में बारह जनवरी को, कलकत्ता में स्वामी विवेकानन्द का जन्म हुआ था। इनका जन्म-नाम नरेन्द्रनाथ था। इनके पिता विश्वनाथ दत्त वकील थे। वे अध्ययन-प्रिय, स्वतंत्रता-प्रेमी एवं उदार-हृदय व्यक्ति थे। खूब कमाते थे और उसी प्रकार, मुक्त-हस्त से, अपने परिवार और आश्रितोंपर खर्च भी करते थे। उनका व्यापक दृष्टिकोण था, इस कारण उनके घर में सभी धर्मों का समान आदर रहा। नरेन्द्र की माँ भुवनेश्वरी देवी बुद्धिमान और धार्मिक स्वभाव की थीं। रामायण, महाभारत, भागवत, इत्यादि ग्रंथों का पारायण उनका प्रति दिन का कार्य था। नरेन्द्र, प्रतिदिन माँ से धार्मिक और पौराणिक गाथाओं को बड़े चाव से सुना करते थे। एक ओर, नरेन्द्र के पिता पुरुष-समाज में समादृत थे, तो दूसरी ओर, आसपास की महिलाएँ माँ भुवनेश्वरी देवी को आदर्श नारी की तरह सम्मान दिया करती थीं। ऐसे भरे-पूरे बौद्धिक, धार्मिक और वात्सल्यपूर्ण परिवार में नरेन्द्र का लालन-पालन हुआ।

नरेन्द्र अत्यन्त ही चपल, नटखटी और जिद्दी स्वभाव के थे। इनके स्वेच्छाचारी और अशिष्ट आचरण से घर भर तंग आ गया था। चूँकि इन्हें किसी भी बात का डर नहीं था, इस कारण, इनपर कोई भी हुकम नहीं चला सकता था। लेकिन माँ ने इनकी ज़िद पर विजय पा ली थी। रोते हुए

नरेन्द्र पर जब माँ 'शिव शिव' कहकर पानी के छींटे डाल देती थी, या जब यह कहती कि "देख, बिले, अगर तू उधम मचाएगा तो महादेव तुझे कैलास में आने न देंगे", तब रोता हुआ जिद्दी नरेन्द्र रोना भूलकर एकदम ध्यानस्थ हो जाता था। इनके जीवन की बहुतेरी अलौकिक घटनाएँ हैं, जिनसे थोड़ा विश्वास होने लगता है कि पूर्वजन्म की अपूर्ण साधनाओं को पूर्ण करने के लिए ही नरेन्द्र का जन्म हुआ। क्योंकि बाल्यावस्था में ही बड़ी सरलता से ध्यानस्थ हो जाना, जो कि बिरले योगियों को ही सिद्ध होता है, बिना पूर्व संस्कारों के सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह विश्वास इस बात से अधिक दृढ़ हो जाता है कि नरेन्द्र के दादा दुर्गाचरण ने अपनी चलती वकालत, ऐश्वर्य, भोगविलास सभी को केवल पच्चीस वर्ष की आयु में तिलांजलि देकर संन्यास ग्रहण कर लिया था। गीता का कथन है कि योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में या ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है।

किशोर नरेन्द्र दो वर्ष रायपुर में अपने पिता के साथ रहे। रायपुर के प्राकृतिक वातावरण का नरेन्द्र पर आध्यात्मिक प्रभाव हुआ। पिता के सान्निध्य में नरेन्द्र में साहित्यिक प्रवृत्ति, स्वतंत्र विचारशक्ति और अडिग आत्मविश्वास का उदय हुआ। दो वर्ष के समय में नरेन्द्र पर पिता की विशालता, तेजस्विता, दानशीलता और अपरिग्रह की अमिट छाप पड़ी। नरेन्द्र अक्सर कहा करते थे, "मैं एक महान् व्यक्ति का पुत्र हूँ।"

श्री रामकृष्णदेव से नरेन्द्र का प्रथम परिचय सन् १८८० में हुआ। जब कि वे इण्टर के विद्यार्थी थे। इसके पश्चात् नरेन्द्र प्रायः श्री रामकृष्णदेव से मिला करते थे और वार्तालाप किया करते थे। कालेज के विद्यार्थियों का प्रिय और निडर नायक, नास्तिक नरेन्द्र धीरे धीरे श्री रामकृष्ण की ओर खिचता गया और सन् १८८६ में नरेन्द्र पूर्ण रूप से गुरुभक्त हो गया था, और इसी वर्ष श्री रामकृष्णदेव के महासमाधि लेने के पश्चात् नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द हो गये।

भारत में इस समय. अंग्रेज अपने पैर जमा रहे थे। उन्होंने अपनी शिक्षा प्रणाली और धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। भारतीय युद्ध के मैदान पर तो हार ही गये थे, परन्तु अपना वास्तविक धर्म और मूलप्रेरणा-दर्शन—को भूल जाने के कारण हीन भाव से ग्रसित हो रहे थे। इस कारण विजेता अंग्रेजों के आचार-विचार, धर्म, नौकरी, संगति सभी कुछ उत्तम समझने की वृत्ति भारतीयों में घर कर रही थी। इन विषैले प्रभावों को दूर करने का राजा राममोहनराय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर इत्यादि ने भरसक प्रयत्न किया। परन्तु एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो विशुद्ध भारतीय होते हुए भी ऐसे विचारों का प्रतिनिधित्व करे जिसके अनुसार मनुष्य-मात्र की आत्मा एक हो, राजा-प्रजा का भेद न हो, अनैतिकता और अधर्म राजा को भी उचित न हो। ऐसे व्यक्तित्व के दर्शन हमें विवेकानन्द में होते हैं। शिकागो की धर्म-संसद में विवेकानन्द के विचारों ने देश-विदेश के

धर्मानुयायियों पर विवेकानन्द और वेदांत की अमिट छाप बैठा दी। विदेशों में शिष्य परंपरा बढ़ी, कई आश्रम स्थापित हुए। विदेशी लोग भारतीय जीवन अपनाकर सत्य की खोज में लग गये। कई तो भारतीय जीवन एवं विचार से प्रभावित होकर भारत आये और यहीं उनके आदेशानुसार जनता की सेवा में लग गये।

जीवन की कोई सी भी समस्या ऐसी न थी, जिसपर विवेकानन्द ने स्पष्ट विचार व्यक्त न किये हों। वे कहा करते थे कि उनका उद्देश्य न तो अद्वैतवाद, न द्वैतवाद या अन्य किसी वाद का प्रचार है। आजकल तो हमें केवल आत्मा के आश्चर्यजनक विचारवाद की ही आवश्यकता है। उनके अनुसार भारतीय जाति की मूलप्रेरणा धर्म है, जिसने इस जाति एवं देश को अभी तक अपनी विशिष्टताओं के साथ कई बाह्य आक्रमण और आंतरिक उथल-पुथल के बाद भी बचाये रखा। परन्तु भारत में धर्म का रूप कुछ ऐसा बिगड़ गया था कि शराब पीना, आलसी होना, कुकर्म करना, यहाँ तक कि लूटपाट मचाना भी धर्म के नाम पर किया जाता था। यह दोष धर्मोपदेशकों का था। यही नहीं, इन लोगों ने संसार को माया, भ्रमजाल एवं असार बताकर मनुष्य को आलसी और उदासीन बना दिया। इसे विवेकानन्द ने साधु, अध्यात्मवादी एवं बुद्धिमान लोगों का भोली भाली जनता पर अत्याचार बताया और इस बात पर बल दिया कि भारतीयों को भोजन, आवास और आमोद-प्रमोद की उसी प्रकार आवश्यकता है, जिस प्रकार एक अंग्रेज को। परन्तु इसके लिये भारतीय को कर्मठ होना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति में देवत्व शक्ति है, जिसे वह अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार, ज्ञान, भक्ति, कर्म या इन्द्रिय-संयम से विकसित कर सकता है। इसमें लिंग, जाति या देश का कोई बंधन नहीं। दूसरों की सेवा करना वास्तव में उनमें प्रतिष्ठित ईश्वर की सेवा है। गरीब और दुःखी तो हमारी मुक्ति के साधन हैं। दूसरों पर शासन करने से कोई भी उनका भला नहीं कर सकता। गरीबों को तो प्रकाश की आवश्यकता है, पर धनवानों को उनसे अधिक प्रकाश चाहिए। इस कारण सेवा भाव को जाग्रत करने के लिये हमें शिक्षा के दूषित प्रभाव को दूर रखकर समान रूप से सभी की सेवा करना चाहिये। भगवान के मंदिर में कोई भी ऊँच-नीच नहीं है, इस भाव को क्रियात्मक रूप देने के लिये एक बार विवेकानन्द ने बेलुड़ मठ में, प्रबन्धकों के मना करने पर भी, वेश्याओं को दर्शन करने आने की अनुमति दे दी थी। भगवान तो पतित पावन हैं, फिर वेश्याओं और हरिजनों से मंदिर दूषित कैसे हो सकते हैं।

एक बार उन्होंने युवकों से कहा "मेरे युवक मित्रो, मेरा प्रथम उपदेश है कि तुम शक्तिमान बनो। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल खेलने से स्वर्ग के अधिक नजदीक पहुँच सकोगे। मैं चूँकि तुम्हें प्यार करता हूँ, इस कारण ऐसे दृढ़ शब्दों में कह रहा हूँ। अपने बलिष्ठ शरीर से गीता को तुम अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। बलहीन आदमी को आत्मा का लाभ नहीं होता।"

राजनीति के सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त आधुनिक

थे। उन्होंने कहा, "राजनीति और समाजशास्त्र में भी जो समस्यायें बीस बर्ष पूर्व केवल राष्ट्रीय थीं, आज वे केवल राष्ट्रीय धरातल पर नहीं सुलझाई जा सकतीं। अब तो समस्याओं का ऐसा रूप बदला है कि वे अन्तरराष्ट्रीय धरातल पर ही सुलझ सकती हैं।"

भारतीय जनता के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था, "युगों तक भारतीय एक शासक जाति के रूप में रहे हैं, परन्तु उनका उद्देश्य शक्ति अथवा शक्ति-प्रदर्शन कभी नहीं रहा। वे कभी भी किसी पड़ोसी देश पर आक्रमण करने नहीं गये। वे हमेशा शांतिप्रिय रहे हैं और भारत को हमेशा ही अपनी सीमा से संतोष रहा है। इसके इतिहास में कभी भी साम्राज्यवादी बनने का लोभ नहीं आया। भारत कभी भी आक्रामक देश नहीं बन सकता।"

परन्तु सत्य से समझौता उन्हें स्वीकार नहीं था। सत्य के लिये हमें त्याग करना पड़े, कुर्बानियाँ देनी पड़े, देना चाहिए। सत्य के मार्ग में संकट आते हैं, पर दृढ़ उद्देश्य और आत्मिक बल से विजय मिल जाती है। उनके मत से भारतीय सैनिक दुनिया में सबसे अधिक नम्र व्यक्ति है। इसका आशय यह नहीं कि वह डरपोक है। जब वह लड़ना चाहता है तो वह राक्षसों की तरह दुश्मनों पर टूट पड़ता है। अंग्रेजों की सेना में सर्वोत्कृष्ट सैनिक भारतीय जनता में से ही चुने गये थे। भारतीय सैनिक के लिये मृत्यु कोई महत्व नहीं रखती। उसकी रग रग में यह भारतीय-सांस्कृतिक-विश्वास भरा है कि "मैं तो बीसों बार इसके पूर्व मर चुका

हूँ, और आगे भी बीसों बार मरूँगा'। मृत्यु उसके काम पूरा करने में बाधा नहीं बनती। यही कारण है कि वे बड़े अच्छे योद्धा हैं।

विवेकानन्द का पूरा जीवन एक ऐसी खुली पुस्तक है, जिसका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक घटना सोये हुए मुर्दार जीवन में प्राणसंचार कर देती है। जीवन का कोई सा अंचल नहीं बचा, जिसे विवेकानन्द ने न छुआ हो, और जो आंदोलित न हो उठा हो। वे तो एक जीती जागती मशाल थे, जिसके प्रकाश के सामने अज्ञान-अन्धकार भागता था। रामकृष्ण मिशन की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ वास्तव में विवेकानन्द की ही प्रेरणाएँ हैं।

सन् १९०२ की चार जुलाई को स्वामी विवेकानन्द ने महाप्रयाण किया। पार्थिव शरीर तो नहीं रहा, पर विचार-शरीर आज भी प्रेरणा का अक्षय भण्डार है।

—आकाशवाणी, इन्दौर से साभार

प्राचीन धर्मों का कथन था कि वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है, नास्तिक वह है जो अपने आप में विश्वास नहीं रखता।

— स्वामी विवेकानन्द

शील गये सब जात है

श्री संतोष कुमार झा

अपनी महत्ता का अभिमान त्यागने पर ही ज्ञान की लिप्सा जागती है। सेवा परायणता और आज्ञाकारिता का सहज आचरण करने पर ही गुरु से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

देवराज इन्द्र के मन में भी एक बार जीवन का परम श्रेय जानने की इच्छा जागी। प्रेय से उन्हें शांति नहीं मिल पाई थी। देवाधिपति ने राजवैभव त्याग कर तपस्वी ब्राह्मण का रूप धारण किया और अपने गुरु बृहस्पति की सेवा में उपस्थित हुए उन्होंने पूछा — "भगवन् ! जीवन का परम श्रेय क्या है ?"

आचार्य ने जीवन के श्रेय की व्याख्या की किन्तु इन्द्र संतुष्ट न हुए उन्होंने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—"गुरूवर ! इससे भी श्रेष्ठ श्रेय क्या है ?"

सस्मित आचार्य ने कहा—"वत्स ! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दैत्य गुरु ऋषि शुक्राचार्य ही दे सकते हैं,तुम उनकी सेवा में जाओ।"

ज्ञान की पिपासा जिज्ञासु के हृदय से ऊँच-नीच और बड़े-छोटे का भाव दूर कर देती है। इन्द्र भी इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर दैत्यगुरु शुक्राचार्य की शरण में गए।

आचार्य शुक्र ने भी जीवन के परम श्रेय की विस्तृत व्याख्या की। किन्तु उससे भी इन्द्र को संतोष न हुआ। उन्होंने पुनः प्रश्न किया—"भगवन् ! इससे भी श्रेष्ठ श्रेय क्या है?"

आचार्य ने उत्तर दिया—"वत्स ! जीवन के श्रेष्ठतम्, परम श्रेय का ज्ञान दैत्यराज प्रह्लाद को है। तुम उन्हीं की सेवा में जाओ। उनकी कृपा से ही तुम्हें जीवन के परम श्रेय का ज्ञान हो सकता है।"

ब्राह्मण वेष धारी इन्द्र महाराज प्रह्लाद की सेवा में उपस्थित हुए। दैत्यराज से भी उन्होंने वही प्रश्न किया। ज्ञान के आलोक से आलोकित प्रह्लाद ने एक बार नखशिखपर्यंत इस जिज्ञासु को देखा और कहा—"विप्र! मैं त्रैलोक्य की राज्य-व्यवस्था में व्यस्त हूँ; अतः मेरे पास समय नहीं है कि तुम्हें जीवन के परम श्रेय का उपदेश दे सकूँ।"

ज्ञान पिपासु के लिये प्रत्येक परिस्थिति अनुकूल, और प्रत्येक क्षण सीखने का सुअवसर होता है।

ब्राह्मण वेष धारी इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! आप मुझे अपनी सेवा में रहने की अनुमति दे दीजिए। सेवा के मध्य जब कभी आप उचित समझें मुझे जीवन के परम श्रेय का उपदेश दे दीजियेगा।"

पहली परीक्षा में इन्द्र खरे उतरे। प्रसन्न चित्त प्रह्लाद ने समझ लिया कि, विप्र को ज्ञान की सच्ची पिपासा है। उन्होंने स्नेहपूर्वक उसे अपनी सेवा में रहने की अनुमति दे दी।

इन्द्र अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति पूर्वक गुरु प्रह्लाद की सेवा में तत्पर रहते तथा सतर्कता पूर्वक उनके आचरणों का निरीक्षण करते। एक दिन उन्होंने पूछा—"महाराज! आपको इस त्रैलोक्य का राज्य कैसे प्राप्त हुआ?"

प्रह्लाद ने कहा—"विप्रवर! मैं राजा हूँ इस अभिमान में मैंने कभी भी ज्ञानीजनों की निन्दा या उनके उपदेशों की अवहेलना नहीं की। वे लोग मुझे जो भी उपदेश देते हैं उसे मैं एकाग्रता पूर्वक सुनता हूँ तथा उसके अनुसार आचरण करने का प्रयत्न करता हूँ। मैं सदैव सत्-संग में रहता हूँ। किसी के दोष नहीं देखता। क्रोध को जीत कर अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन रखता हूँ। यही श्रेय है, और राजा को इसका पालन करना चाहिये। इसके आचरण से सभी वैभव प्राप्त हो जाते हैं।"

इन्द्र ने अत्यन्त एकाग्रता पूर्वक श्रेय का रहस्य सुना और और वे दैत्यराज की सेवा में पुनः तत्परता से प्रवृत्त हो गए। प्रह्लाद अपने इस शिष्य की सेवा से अत्यंत प्रसन्न हुए और एक दिन उन्होंने कहा—"वत्स! मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ, तुम जो भी वर चाहो मुझसे माँग लो।"

इन्द्र ने नम्रता पूर्वक कहा—"भगवन्! आपने मेरी सभी इच्छाएँ पूर्ण कर दी हैं। अब मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है।"

प्रह्लाद ने पुनः आग्रह किया।

गुरु का आग्रह देख ब्राह्मण ने कहा—"प्रभु! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझे वर देना ही चाहते हैं तो कृपा पूर्वक मुझे अपना शील प्रदान कर दीजिए।"

ब्राह्मण द्वारा माँगे गए वरदान को सुनकर प्रह्लाद प्रसन्न हुए। किन्तु साथही उन्हें विस्मय भी हुआ। उन्होंने समझ लिया कि ब्राह्मण वेशधारी यह व्यक्ति अवश्य ही कोई विलक्षण पुरुष है। सत्य निष्ठ प्रह्लाद ने अपना वचन पूर्ण किया और उसे अपना शील दे दिया।

वरदान देने के पश्चात् प्रह्लाद अभी विचार ही कर रहे थे कि अब आगे क्या करना चाहिए, तभी एक अत्यंत तेजोमय ज्योति-पुरुष उनके शरीर से बाहर निकल कर उनके सामने उपस्थित हुआ।

प्रह्लाद ने विस्मित होकर उस पुरुष से पूछा—"भद्र! आप कौन हैं?"

उस तेजस्वी पुरुष ने उत्तर दिया—"राजन्, मैं शील हूँ। आपने मुझे दान में दे दिया है अतः मैं जा रहा हूँ। अब मैं उस ब्राह्मण के शरीर में रहूँगा जिसे आपने वरदान दिया है।" यह कह कर शील अदृश्य हो गया।

शील के जाते ही प्रह्लाद के शरीर से वैसा ही तेजस्वी एक दूसरा पुरुष प्रकट हुआ। विस्मय-विस्फारित प्रह्लाद ने उससे भी वही प्रश्न पूछा।

उस तेजस्वी पुरुष ने कहा—"राजन्! मैं धर्म हूँ। अब मैं उस ब्राह्मण के पास जा रहा हूँ, क्योंकि मेरा निवास वहीं होता है जहाँ शील रहता है।" यह कह कर धर्म भी अन्तर्धान हो गया।

तदनन्तर प्रह्लाद के शरीर से एक तीसरा तेजस्वी पुरुष प्रकट हुआ। राजा ने उससे भी परिचय पूछा।

उसने कहा—"असुरराज! मैं सत्य हूँ। मैं धर्म के पास

जा रहा हूँ। धर्म ही मेरा निवास स्थान है। धर्म में ही मेरी स्थिति है।" यह कहकर सत्य भी अदृश्य हो गया।

सत्य के चले जाने पर एक और पुरुष प्रकट हुआ। उसने अपना परिचय देते हुए कहा—"महाराज ! मैं सदाचार हूँ। मैं सत्य का अनुयायी हूँ। जहाँ सत्य रहता है, वहीं मैं भी रहता हूँ।"

सदाचार के चले जाने पर, भीषण शब्द करता हुआ एक अत्यन्त दृढ़ पुरुष प्रह्लाद की देह से प्रकट हुआ। उसने प्रह्लाद को बताया, मैं बल हूँ। मैं सदाचार का सहयोगी हूँ। जहाँ सदाचार रहता है वहीं मेरा निवास स्थान है।"

इसके उपरान्त प्रह्लाद की देह से एक अत्यंत रूपवती तेजोमयी देवी उत्पन्न हुईं। प्रह्लाद ने विस्मित होकर उनसे भी उनका परिचय पूछा।

देवी ने कहा—"असुरराज ! मैं लक्ष्मी हूँ। जब तक तुम्हारे पास बल था तब तक मैं भी थी; क्योंकि मैं बल की ही अनुगामिनी हूँ, अतः अब मैं बल के पास जा रही हूँ।" यह कहकर लक्ष्मी भी वहाँ से चली गईं।

प्रह्लाद बड़े व्याकुल हुए। उन्होंने देवी से कहा—"माँ ! तुम तो सत्यव्रता हो। मुझे सच सच बताओ वह ब्राह्मण कौन था ?"

देवी ने कहा—"राजन् ! ब्रह्मचारी ब्राह्मण के वेश में साक्षात् इन्द्र ने तुम्हारा शिष्यत्व स्वीकार किया था। महात्मन् ! तुमने शील के द्वारा ही तीनों लोकों पर विजय

पाई थी। तुम्हारी सेवा में रहकर यह बात इन्द्र ने समझ ली। इसीलिए उन्होंने तुमसे वरदान में शील माँग लिया। महाप्रज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं सदा शील के ही आधार पर रहते हैं। अतः जो हमें प्राप्त करना चाहता है उसे एकाग्र चित्त से मन-प्राण-पूर्वक शील को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शील के आते ही शेष सब कुछ अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।"

दुर्जनेन समं साख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चांगारः शीतः कृष्णायते करम्॥

—दुर्जनों के साथ मैत्री और प्रेम कुछ भी नहीं करना चाहिए। कोयला यदि जलता हुआ है तो स्पर्श करने पर जला देता है और यदि ठण्डा है तो हाथ काला कर देता है।

— हितोपदेश

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

डा० त्रेतानाथ तिवारी

(गतांक से आगे)

शताब्दियों की दासता से निष्प्राण हुई जनता में नव चैतन्य जागृत करने के लिए लोकमान्य को आवश्यक जान-पड़ा कि समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ किया जाये। इस दृष्टि से मराठी में 'केसरी' तथा अंग्रेजी में 'मराठा' का जन्म हुआ। पहले ही अग्रलेख में 'केसरी' की गर्जना सुन पड़ी—"सरकारी अधिकारीगण अपना कर्तव्य निष्पक्षता पूर्वक सुचारु रूपेण पालन कर रहे हैं या नहीं इस विषय में हम एक जागरूक प्रहरी की भाँति कार्य करेंगे। सरकार हम पर प्रसन्न हो अथवा अप्रसन्न, इससे हमारी स्पष्टवादिता पर कोई आँच न पड़ेगी।" एक बार एक मित्र से आपने कहा था, "आपका कहना ठीक है। मेरी भाषा इन लेखों में बहुत तीखी हो गई है, किंतु अधिकारियों के असहनीय अन्याय को देखकर मेरा हृदय अत्यंत पीड़ित हो उठा है और मैं अपने भावों का संवरण नहीं कर पाता। फिर भी मैंने कहीं भी न्याय और नियमों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है।" सरकार एवं आंग्ल पत्रों की इन पत्रों पर सदैव वक्र दृष्टि रहती थी। प्रारम्भिक अवस्था में अपने इन पत्रों को अच्छी तरह प्रतिष्ठित कर देने के लिये लोकमान्य ने

यथा आवश्यक सभी कुछ किया। एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने स्वीकार किया था, "मैंने इन पत्रों के प्रेस की टाइपों की पेटियाँ तक स्वयं अपने सिर पर उठा-उठाकर ढोई हैं।"

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम २५ वर्षों में देश में १८ दुष्काल पड़े जिनमें से चार बड़े ही भयानक थे। १८९६-९७ ई० देश में यत्रतत्र घोर दुष्काल छा गया। तिलक का इस काल का जन-जागृतिकार्य अनुपम था। उन्होंने देखा लोग भूखों मरते जा रहे हैं किंतु जनता कोई आवाज नहीं निकालती। जनता दुर्बल, भयभीत और निष्प्राण हो गई थी। सहस्रों की संख्या में अन्न बिना लोग जंगलों में खाने योग्य पत्ते एकत्र करते भटकते रहते और उपयोगी पशु चारे बिना प्राण त्याग देते। तथापि कोई भी पुकार करने की हिम्मत न करता था। यह दुर्दशा देखकर उन्होंने सरकार को चेतावनी दी, "महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की है कि दुष्काल से कोई मरने न पाये किंतु सरकार अपने 'फेमिन कोड' की स्वयं ही अवहेलना कर रही है। यदि यही गति-विधि रही तो जनता में क्रांति मच जायेगी।" 'फेमिन कोड' की उन्होंने अनेकों प्रतियाँ छपाईं और प्रचुर संख्या में सर्वत्र वितरण कराया। इनकी प्रतियाँ उन्होंने सरकारी अधिका-रियों के पास भी भेजीं। कई अधिकारियों ने तो इन्हें वे प्रतियाँ वापस भेज दीं और कहा कि तिलक हमें कर्तव्य की शिक्षा देने वाले कौन होते हैं। 'फेमिन कोड' के अनुसार सहायता की माँग के लिये तिलक ने जनता से बारम्बार प्रार्थनापत्र भिजवाये कि लगान माफ किया जाये, उद्योग

खोले जायें, सस्ते अनाज की दूकानें खोली जायें और तकावी आदि की व्यवस्था हो। 'केसरी' और 'मराठा' के अनेकों लेखों द्वारा उन्होंने भयभीत जनता को आश्वासित किया कि सरकार के ही बनाये नियमों का सरकार द्वारा पालन कराने का आग्रह कोई अपराध नहीं है। अनेकों कार्यकर्ता गाँव-गाँव में 'फेमिन कोड' की प्रसिद्धि के लिये भेजे गये। इनमें किन्हीं किन्हीं को कारावास भी हो गया। सरकारी पदाधिकारी इनकी सभाओं में गोली चलाने की तैयारी से पुलिस लेकर जाते किंतु तिलक गर्जना करते, "भाइयों! भयभीत होने का कोई कारण नहीं। हमने नियमों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया है। सरकार द्वारा उसी के बनाये नियमों का पालन कराने का हमें अधिकार है। यदि जनता में सरकारी नियमों का समझाना अपराध है तो सबसे बड़ा दोषी मैं हूँ। कार्यकर्ताओं से कहीं अधिक बार वह अपराध मैं ने किया है। आप भयभीत न हों।" ऐसे भाषण सुनकर लोग दाँतों-तले अँगुली दबाते और दीन जनता में नये प्राण आजाते। भय त्याग कर सहस्रों की संख्या में अब जनता कार्यकर्ताओं के मुकदमे सुनने जाने लगी। तिलक कहते, "कलेक्टरों का इस प्रचार को अपराध मानना मूर्खता है। आप लोग जरा भी न डरें। 'फेमिन कोड' का प्रचार करें और पुनः पुनः सहायता के लिये प्रार्थनापत्र भेजते ही रहें।"

दूसरी ओर उन्होंने स्वयं भी रचनात्मक कार्य किये। व्यापारियों द्वारा सस्ते अनाज की दूकानें खुलवायीं। धनिकों द्वारा अन्नसत्रों के लिए धन-दान की व्यवस्था कराई। देश-

वासियों की सहायता के लिये अग्रसर होने का नूतन पाठ लोगों ने पढ़ा। आपकी पुकार से असंख्य धनिक सामने आने लगे। भूख से प्राण गँवाने का भय जाता रहा। किसानों में हिम्मत बँधी। आप जहाँ भी जाते, भय का अन्धकार दूर हो जाता और आत्मविश्वास जाग उठता। 'केसरी' और 'मराठा' में सदा नग्न सत्य के दर्शन होते और आप को इस नव-जन जागरण में भावी स्वातंत्र्य के दर्शन होते। दुष्काल की आपत्ति के बहाने जनता ने आपके हृदय में बसे हुए देशवासियों के प्रति प्रेम और आत्मीयता को पहचाना। किसान तो आपको देवता मानकर आपकी आज्ञा का पालन करने लगे। एक सरकारी कर्मचारी ब्रुक ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि तिलक ही किसानों के सच्चे नेता हैं। एक बार एक उत्तेजित भीड़ को, जिससे अधिकारीगण भय-भीत हो उठे थे, आपने मात्र मधुर शब्दों से शांत कर दिया।

इधर दुष्काल से पूर्णतया मुक्ति मिल भी न पाई थी कि प्लेग ने आ घेरा। यह रोग हमारे देश में पहले कभी न होता था। एक विदेशी जहाज द्वारा यह बम्बई में आया और तत्पश्चात् पूना में फैल गया। इसका प्रकोप भीषण था। तीन-चार सप्ताह में ही चार सौ मनुष्य इससे कालग्रस्त हो गये। भारत सरकार पहले तो निष्क्रिय थी किन्तु इंग्लैण्ड से सरकारी सूचना आने पर वह जागी। उपाय प्रारम्भ करने के लिये सतारा के असिस्टेन्ट कलेक्टर रैन्ड को नियुक्त किया गया। रैन्ड के गोरे सिपाही रोगी खोज निकालने के बहाने चाहे जिस घर में घुस जाते। रसोईघरों और पूजा घरों

में जूते ले जाते। घर का सामान तोड़-फोड़ डालते। कपड़े जला देते एवं 'सैग्रिगेशन कैम्प' ले जाने के बहाने महिलाओं और बालकों से दुर्व्यवहार करते। वे गर्भिणी स्त्रियों तक का कोई विचार न रखते थे और उन्हें घर से बाहर खींच लाते थे। ये लोग यहाँ तक बढ़ गये कि सामान लूटने और व्यभिचार भी करने लग गये। लोग प्लेग से जितना न डरते थे उतना इनके अत्याचारों से डरने लगे। तिलक ने 'केशरी' में लेख लिखा। जनता को आश्वासित किया और रैन्ड से जाकर मिले। रैन्ड ने यद्यपि भेंट में सौजन्यता दिखाई किन्तु उसके सिपाहियों के अत्याचारों में कोई न्यूनता न आई तब आपने गवर्नर से अपील की। प्लेग से बचाव के सम्बन्ध में आपने स्वयं भी जनता की बहुत सेवाएँ कीं। अपने कार्यकर्ताओं को प्लेगयुक्त स्थान छोड़कर बाहर न जाने और पीड़ितों की सेवा शुश्रूषा करने का आदेश दिया। आप पर बाद में चलाये गये अभियोग के सम्बन्ध में इन बातों को सरकार की ओर से स्वीकार किया गया है। चार वर्ष बीत गये। सरकारी उपायों से विशेष लाभ न हुआ। तब एक जाँच समिति स्थापित की गई जिसमें श्री स्टीड ने भी इस अत्याचार-पूर्ण रीति की भर्त्सना की।

गोरे सिपाहियों के अत्याचारों के कारण रैन्ड से जनता भीतर ही भीतर अत्यन्त त्रस्त और क्रुद्ध हो गई थी। महारानी विक्टोरिया की जुबिली के भोज से वापस आते समय किसी ने पीछे की ओर से कार में ले. आयर्स्ट और रैन्ड की हत्या कर दी। शहर में सरकार ने जासूसों का जाल बिछा दिया।

कर्फ्यू लग गया और २०,०००) का इनाम घोषित कर दिया गया। किन्तु कुछ पता न लगा। सरकार की वक्रदृष्टि तिलक की ओर फिरने लगी। सरकार की धारणा थी कि पूना के कुछ ब्राह्मणों ने षड़यन्त्र करके यह कार्य किया है।

'केसरी' में दो लेख 'सरकार का मस्तिष्क ठिकाने पर है क्या ?' एवं 'राज्य-संचालन बैर भँजाना नहीं है' छपे। तिलक ने लिखा, "सरकार समझती है कि ब्राह्मणों ने एका करके यह दुष्कर्म कराया है किन्तु सरकार को ज्ञात नहीं है कि हममें कितनी फूट है और हम लोग एक होकर प्रकट रूपसे कोई सत्कार्य भी नहीं कर पाते। षड़यन्त्र तो दूर की बात है। सरकार हत्याकारी को गिरफ्तार कर सजा दे, पत्रकारों पर अभियोग चलाये, किन्तु जन सामान्य को निरपराधियों को धमकी दे-दे कर संत्रस्त और भयभीत करना कहाँतक उचित है ? सरकार को चाहिये कि दुष्टों को अनुशासन में रखे। जो सरकार यह नहीं कर सकती वह नालायक है। हत्या हो गई इसलिये समस्त जनता से उसका बदला भँजाना किसी अंश में न्याय्य नहीं।" इन्हीं लेखों पर से आपको गिरफ्तार किया गया और जमानत नहीं दी गई, किन्तु दाजी साहब खरे जब जमानत नहीं मिलने का समाचार देने गये तो देखा कि स्थितप्रज्ञ बंदी गाढ़ निद्रा में शान्तिपूर्वक सो रहा है।

इस हत्याकाण्ड से यूरोपियन क्लबों में भय छा गया। रैन्ड की शवयात्रा धूम धाम से निकाली गई। गण्य मान्य भारतीय सम्मिलित हुए किन्तु उदार चेता विद्वान् डा०

भांडारकर बम्बई के शरीफ सर कावसजी जहाँगीर को समाधिभूमि में न जाने दिया गया। एक पारसी महिला पुष्पहार चढ़ाना चाहती थी, उसे भी मनाही कर दी गई।

इधर तिलक के विरुद्ध अभियोग चला किन्तु कोई भी प्रमाण हस्तगत न हो पाया। अन्त में पुलिस को हत्या से कुछ दिनों पूर्व के एक भाषण की रिपोर्ट मिली जिसमें तिलक ने शिवाजी राज्याभिषेकोत्सव के उपलक्ष में विठ्ठलमंदिर में कहा था, "म्लेच्छों को भारतवर्ष पर शासन करने का ताम्रपट परमेश्वर ने नहीं लिख दिया है। अतः अफजल खाँ को मारकर शिवाजी महाराज ने कोई अनुचित कर्म नहीं किया।" यह भाषण 'केशरी' में छपा था। उसी अंक में 'निशाणी भवानी तलवार' के नाम से 'शिवाजी के उद्‌गार' कविता भी छपी थी। सरकार द्वारा इसमें के म्लेच्छ शब्द को अंग्रेजों पर भी लागू करके इसका उपयोग अभियोग में किया गया।

तिलक को बम्बई के वकील वर्ग से प्रतिरक्षा के लिये कोई सहायता न मिली किन्तु जन-साधारण ने इस कार्य के लिये धन एकत्र किया। बंबई सरकार की गुप्त रिपोर्ट के अनुसार चालीस हजार रुपये एकत्र हुए थे।

इधर बंगाल से महत्त्वपूर्ण सहायता आई। 'अमृत बाजर पत्रिका' के श्री मोतीलाल घोष एवं कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के प्रयत्न से प्रायः सत्रह हजार रुपये एकत्र हुए। कई लोगों ने गुप्त रूप से दान दिया। फलस्वरूप तिलक के पक्ष में प्यू और गार्थ ये दो प्रसिद्ध यूरोपियन बैरिस्टर तथा एक

चौधरी नामक भारतीय बैरिस्टर खड़े हुए फिर भी आपको १८ मास कठिन कारावास का दण्ड मिला। प्रिवी कौंसिल अपील में भी सफलता न मिली।

भारतीय और अंग्रेजी अखबारों में इस दण्ड पर पर्याप्त टीका-टिप्पणी हुई। दो यूरोपियनों की हत्या के कारण यूरोपियन समाज उत्तेजित हो उठा था। इधर जेल में तिलक का स्वास्थ्य भी उतना अच्छा न रहता था। इंग्लैन्ड में यह मत प्रकट किया जाने लगा कि तिलक की मृत्यु ब्रिटिश जेल में होना साम्राज्य के लिये हितावह न होगा। इन कारणों से आप को छः मास पूर्व ही मुक्त कर दिया गया।

मुक्ति में दो शर्तें लगाई गईं। एक तो यह कि मुक्ति के उपलक्ष में कोई प्रदर्शन न हो। आप स्वयं शांति प्रिय होने के कारण इस शर्त से तो सहमत हो गये। किंतु इसका भंग स्वयं जनता ने उस रात दीपावली मनाकर कर दिया। दूसरी यह थी कि लेख, कृति भाषण आदि द्वारा सरकार के प्रति तिलक अप्रीति उत्पन्न न करें। इसके संबंध में आपने सूचना दे दी, "पहले मेरी कृति आदि पर दोष बताकर अभियोग चलाया जाये, तत्पश्चात् मेरी माफी रद्द कर शेष सजा भोगने मुझे कारावास भेज दिया जाये, यही न्याय होगा।"

शारीरिक स्वास्थ्य लाभ करने के लिए कुछ समय तक विश्राम लेकर तिलक मद्रास कांग्रेस गये किन्तु वहाँ किसी प्रकार सक्रिय भाग न लिया। इस पर जब किसी संवाद दाता ने आपसे प्रश्न किया तो आपने कहा, "मैं आज पर्यन्त जो कुछ करता आया हूँ, भविष्य में भी वही करता रहूँगा।

भाषण न करने का वचन मैंने सरकार को नहीं दिया है। आप कोई मिथ्या धारणा न बनालें।" 'केसरी' का सम्पादन पुनरेव प्रारम्भ करने पर आपका पहला लेख "पुनश्च हरि ॐ" छपा। उसमें आपने लिखा था, "हम अपना काम करते ही रहेंगे। स्वराज्य प्राप्त करना हमारा ध्येय है। हमारा उद्योग शुद्ध अंतःकरण से होते रहना चाहिये। चूहे उपद्रव करते हैं इस कारण मनुष्य घर बनाना छोड़ दें यह नहीं हो सकता।"

सार्वजनिक कार्यक्रम पुनः प्रारम्भ हुए और आपने शिवा जयन्ती एवं गणपति उत्सव को नूतन सार्वजनीन राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। निद्रित राष्ट्रपुरुष को गणेशोत्सव के धार्मिक साधन द्वारा जागृत कर शिवाजी-उत्सव रूपी ऐतिहासिक साधन से उसकी पुष्टि की।

कारावास से लौटने पर आपका स्वास्थ्य पूर्णतया सुधर भी न पाया था कि आप एक नये संकट से ग्रस्त हो गये। इससे आपको अपनी मृत्यु के कुछ ही काल पूर्व निष्कलंक घोषित कर छुटकारा मिला। इस प्रकार यह संकट आपको २३ वर्ष तक पीड़ित करता रहा। आपका काल सस्ती नेतागिरी और जयमाल पहनने का न था। एक ओर तो आपके अपने कहलाने वाले ही लोग आपको कष्ट देते थे, दूसरी ओर सरकार आपके विपक्ष में किसी भी अन्याय में सम्मिलित हो सब प्रकार सहायता देकर, आपके नैतिक चरित्र पर कालिमा पोतना चाहती थी ताकि आपका सार्वजनीन जीवन ही समाप्त हो जाये।

जिस समय आपको दो-तीन प्रयत्नों के पश्चात् जमा-

नत मिली, उन्हीं दिनों आपके मित्र बाबा महाराज अचानक विसूचिका से पीड़ित हो गये। अपने को मरणासन्न जानकर उन्होंने एक मृत्युपत्र लिख दिया, "मेरी धर्मपत्नी ताई महाराज गर्भिणी हैं। उन्हें यदि पुत्र लाभ न हो अथवा वह पुत्र अल्पायुषी हो तो वे निम्नोक्त ट्रस्टियों की सलाह से एक दत्तक पुत्र ले लें और उसके वयस्क होते तक पंच लोग मेरी स्थावर-जंगम संपत्ति का प्रबंध करें।"

बाबा महाराज की मृत्यु के अनंतर ताई महाराज ने पुत्र प्रसव किया किन्तु वह दो मास में ही चल बसा। तत्पश्चात् तिलक १८९८ ई० में जेल से छूटे और स्वास्थ्य सँभालने के साथ आपको यह जागीर भी सँभालनी पड़ी। जमींदारी पर कर्ज था, किंतु ताई महाराज समझती थीं कि हम रईस हैं। नियमित वेतन भोगी की भाँति जीवनयापन उन्हें अपमानास्पद लगा। उन्हें ऐसे स्वार्थी सलाहकार भी मिल गये जिन्होंने तिलक आदि मित्रों और शुभचिंतकों पर से उनका विश्वास हिला दिया। वे अपने से आयु में ४ वर्ष बड़े श्री बाला महाराज को गोद लेने को सहमत हो गईं। इस कार्य में एक ट्रस्टी भी शामिल थे। इधर तिलक और खापर्डे इन दो ट्रस्टियों का मत भिन्न था। ये ताई महाराज को अपने साथ औरंगाबाद ले गये और सबकी सहमति से उन्हीं के कुटुम्ब के एक बालक जगन्नाथ को, जिसकी आयु ७ वर्ष की थी, उसके पिता के द्वारा ताई महाराज की गोद में बिठा दिया। इस प्रकार पुरातन पद्धति से दत्तक-विधान सम्पन्न हो गया। फिर लेख बद्ध प्रमाणपत्र और साक्षी-हस्ताक्षर आदि भी तैयार हुए।

तत्पश्चात् जब ताई महाराज पूना आईं, तो स्वार्थी और दुर्मना लोगों की सलाह से उन्होंने तिलक के घोर विद्वेषी डिस्ट्रिक्ट जज एस्टन को अपनाया। और उन्हीं की अदालत में प्रार्थना पत्र दिया कि (१) पुत्र उत्पन्न होकर मृत हो जाने के कारण ताई महाराज पुनः उत्तराधिकारी बन गईं और मृत्युपत्र तथा प्रोबेट रद्द हो गया; (२) ट्रस्टीगण अयोग्य सिद्ध हुए हैं अतः दूसरे ट्रस्टी नियुक्त किये जायें।

एस्टन ने शीघ्र ही फैसला दिया। प्रोबेट और ट्रस्टी अधिकारपत्र रद्द हो गये। इसके अतिरिक्त, उन्होंने तिलक के नैतिक चरित्र पर दोषारोपण कर निम्नलिखित बातों की जाँच के लिए पुलिस को अभियोग सौंप दिया। यथा:—मिथ्या प्रमाण देना, जाली दस्तावेज तैयार करना, पुलिस को दत्तक प्रकरण में झूठी जानकारी देना, गैर कानूनी मंडली एकत्रित करना, दंगा कराना इत्यादि।

जाँच शीघ्र प्रारम्भ हुई। एंग्लो इण्डियन समाज ने अत्यन्त प्रसन्न हो एस्टन को अनेक बधाइयाँ दीं। तिलक गंभीरता, शांति और सहिष्णुता की मूर्ति बने रहे।

तिलक ने एस्टन के निर्णय के विरुद्ध अपील की और हाईकोर्ट ने अपना निर्णय तिलक के पक्ष में दिया। किन्तु तब तक दूसरे विषवृक्ष में फल लग आये थे। पुलिस-जाँच के अनुसार उन पर फौजदारी मुकदमा चला और क्लैमेन्टस साहब ने आपको डेढ़ वर्ष का कठिन कारावास और एक हजार रुपयों का आर्थिक दण्ड दिया। फैसले के दिन

अश्वारोही एवं सशस्त्र पुलिस का प्रचुर एवं कड़ा प्रबन्ध था।
तिलक को हथकड़ियाँ डालकर यरवदा जेल ले जाया गया।
जनता इसे देखकर संतप्त हो उठी। कलकत्ते, लाहौर आदि
के पत्रों ने इसकी कड़ी टीका की और लिखा, "क्या सरकार
१८५७ के युद्ध को भूल गई जब सरकार को पहले से कुछ
भी दिखाई न पड़ता था।"

सेशन्स कोर्ट ने डेढ़ वर्ष के कारावास को छः मास कर
दिया। तत्पश्चात् हाई कोर्ट में अपील हुई। निर्णय मिला,
"आरोपी निर्दोष है। कारावास दण्ड रद्द किया गया। यदि
वह आर्थिक दण्ड की निधि दे चुका हो तो वह उसे वापस
दिलाई जाये।" एस्टन का फैसला ३ अप्रैल १६०२ को हुआ
था और हाईकोर्ट का ३ मार्च १६०४ को हुआ।

तिलक के पास सहस्रों बधाई के संदेश आये और रे
मार्केट के मैदान में श्री पटवर्धन की अध्यक्षता में प्रचंड
जनसमूह द्वारा सभा में सार्वजनिक अभिनंदन हुआ।

पर दीवानी प्रकरण अभी भी समाप्त नहीं हुआ था।
१६०४ में एक फैसला हुआ। १६०६ में फर्स्ट क्लास न्याया-
धीश ने तिलक के पक्ष में निर्णय दिया। तत्पश्चात् प्रतिपक्षी
की अपील हुई जिसमें तिलक के विरुद्ध निर्णय मिला। उस
समय आप मंडाले जेल में थे। आपकी ओर से प्रिवी कौंसिल
में अपील हुई जिसमें आप निष्कलंक मुक्त घोषित हुए।
यह निर्णय आपकी मृत्यु के कुछ ही काल पूर्व तार द्वारा
भारतवर्ष में ज्ञात हुआ।

तिलक के विरुद्ध व्यक्तिगत अभियोग होते हुए भी सरकार ने अपने सभी साधन लगाये और अपार द्रव्य व्यय किया। वास्तव में यह स्वातंत्र्य संग्राम का ही अंग बन गया। किन्तु तिलक तपाये सोने के समान खरे उतरे। सूर्य पर थूकने के समान इस दुष्प्रयत्न का सरकार पर ही स्थायी दुष्परिणाम हुआ।

(क्रमशः)

मनुष्यमात्र में बुद्धिगत ऐसा कोई दोष नहीं है जिसका प्रतिकार उचित अभ्यास के द्वारा न हो सकता हो। शारीरिक व्याधि दूर करने के लिए जैसे अनेक प्रकार के व्यायाम हैं वैसे ही मानसिक रुकावटों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के अध्ययन हैं।

—बेकन

प्रश्न—ध्यान का अभ्यास करने से ऐसा मालूम होता है मानो चित्त पहले की अपेक्षा अधिक चंचल हो उठा है। मन में ऐसे भयानक विचार उठते हैं, जिनकी कल्पना तक न की गयी हो। ऐसा मुझे क्यों होता है? उसे दूर करने का क्या कोई उपाय है?

—उर्मिल सेन, बम्बई।

उत्तर—यह केवल आप की समस्या नहीं है, वरन् बहुतेरे साधकों की यह शिकायत है। कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना के प्रारम्भिक दिनों में ऐसा अनुभव करता है। जब हम मन को ध्यान में लगाने के लिए एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं, तब हमें उसके वास्तविक स्वरूप की झलक मिलती है। साधारण तौर पर हमारा मन सतत विचारों के प्रवाह के समान है। कल्पना कीजिए, एक धारा बह रही है। ऊपर से हमें उसकी शक्ति का पता नहीं चलता। पर जब हम उस धारा को बाँधने का प्रयास करते हैं, तब उसकी अकल्पित शक्ति प्रकट होती है। बाँध बह जाते

हैं और ऐसा लगता है कि धारा में इतनी ताकत होने की कल्पना हमने नहीं की थी। उसी प्रकार, जब हम ध्यान करते हैं तो वह मानो मन को बाँधने के समान है और इस प्रयास में मन अधिक क्षुब्ध हो उठता है। लगता है, मानो वह इतना चंचल कभी न था।

कल्पना कीजिए, एक सरोवर है जिसका जल निर्मल दीखता है। पर उसके तल में इतना कीचड़ जमा हुआ है कि हम एक कंकड़ सरोवर में डालते हैं तो उतने से ही धीरे-धीरे आसपास का पानी गँदला हो जाता है। मान लीजिए, हम इस सरोवर को कीचड़ से साफ करना चाहते हैं। हमने कीचड़ निकालना शुरू किया। पानी गँदला हो जाता है। जैसे जैसे हम कीचड़ निकालते जाते हैं वैसे वैसे सरोवर का जल अधिकाधिक मटमैला होता जाता है। यदि हम सोचें कि इससे तो पहले ही अच्छा था जब सरोवर का जल इतना गँदला तो न था, और ऐसा सोचकर कीचड़ निकालना बंद कर दें, तो धीरे धीरे सरोवर का जल फिर से निर्मल तो हो जायेगा, पर उसकी निर्मलता का कोई तात्पर्य नहीं होगा, क्योंकि एक छोटा सा कंकड़ उसके तल के कीचड़ को ऊपर दे सकता है। पर यदि हमने जल के गँदले होने की परवाह न कर, कीचड़ का निकालना जारी रखा तो एक दिन आयेगा जब सरोवर का सारा कीचड़ साफ हो जायगा और उसके बाद उसके जल को जो निर्मलता प्राप्त होगी वह यथार्थ की होगी; क्योंकि तब सरोवर में यदि हाथी भी उतर जायें तो जल गँदला न होगा।

हमारा मन भी उसी सरोवर के समान है जिसके तल में जन्म-जन्मान्तर के गन्दे संस्कार भरे हुये हैं। ऊपर ऊपर से यह निर्मल-सा लगता है पर एक छोटा सा दृश्य, एक तनिक सा विचार हमारे मन के कूड़ा-कर्कट को बाहर प्रकट कर देता है। जब ध्यान आदि साधना के सहारे हम मन की इस संचित गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, तो सरोवर के जल के समान मन बड़ा गंदा दिखाई देता है, उसमें बड़े भयानक-भयानक विचार उठते रहते हैं। पर हम न डरें। यही समझें कि हम ठीक रास्ते पर हैं। जान लें कि नाली साफ हो रही है। अभ्यास को न त्याग कर, उसको और तीव्र कर दें। धीरे धीरे हम देखेंगे कि हमारा मन पहले की अपेक्षा अब काफी ठीक हो चला है।

यही उपाय है। हमें अध्यवसाय और धैर्य के साथ इस उपाय के साधन में लगे रहना चाहिए। सफलता अवश्य मिलेगी।

आश्रम-समाचार

(१ जून से ३१ अगस्त तक)

स्वामी आत्मानन्द ने कठोपनिषद् पर इस सत्र की रविवासरीय उपनिषद्-प्रवचनमाला का प्रारम्भ ११ जुलाई से किया। कठोपनिषद् पर यह उनका दसवाँ प्रवचन था। १८ जुलाई, २२ और २९ अगस्त को उन्होंने इस उपनिषद् पर ११ वाँ, १२ वाँ और १३ वाँ व्याख्यान दिया।

आश्रम के सत्संग भवन में इस बीच विभिन्न कार्यक्रम होते रहे। २५ जुलाई को रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुलपति माननीय डा० बाबूराम जी सक्सेना ने उपनिषदों पर विद्वतापूर्ण और सारगर्भित व्याख्यान दिया। उन्होंने 'उपनिषद्' शब्द के अर्थ का विवेचन करते हुए बतलाया कि गुरु के समीप श्रद्धावनत हो जिज्ञासु होकर बैठने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अज्ञान के समस्त बन्धनों को छिन्न कर देता है। उपनिषद् इसी आत्मज्ञान का प्रकटन करते हैं। आत्मज्ञान के बिना मनुष्य इस सतत प्रवहमान जन्म-मृत्यु-प्रवाह से नहीं बच सकता।

१ अगस्त को श्री प्रेमचन्द जैन का रामायण पर मधुर प्रवचन हुआ। ८ अगस्त को श्री कन्हैयालाल वर्मा ने गीता और रामायण पर विचारपूर्ण भाषण दिया।

१५ अगस्त को स्वातंत्र्य दिवस के उपलक्ष में आश्रम की ओर से 'राष्ट्र-निर्माता-दिवस' मनाया गया। यह एक परिसंवाद के रूप में था जिसकी अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलसचिव श्री कौशलप्रसाद जी चौबे ने की। विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य डा० रविप्रकाश माथुर ने 'गाँधी' पर बोलते हुए कहा कि राष्ट्रनिर्माताओं में सर्वप्रथम स्थान महात्मा गाँधी का है। आपने कहा कि गाँधीजी ने इस बिखरे हुए देश को एक सूत्र में पिरोया और इस एकता के लिए साधन के रूप में उन्होंने धर्म का सहारा लिया। जनता पर

उनके कार्यों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ने का कारण यही था कि वे सब बातों में भारतीय थे।

शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती विद्या गोलवलकर ने 'तिलक' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि उनके जीवन से हम सच्चरित्रता और दृढ़ता का पाठ पढ़ते हैं। वे विदेशी हुकूमत के विरुद्ध देश की जनता को जागृत करने में इसलिए सफल हो सके कि वे स्वयं जनता को समझते थे और उनकी भावनाओं का आदर करना जानते थे।

दुर्ग महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री बी.सी. श्रीवास्तव ने 'जवाहर' पर चर्चा करते हुए उनकी धर्म निरपेक्षता, उदारता और आर्थिक दृष्टि-कोण से समाजवाद के पुरस्कर्ता के रूप में राष्ट्र के निर्माण में उनके महान् योगदान की चर्चा की। आपने कहा कि इस देश में संसदीय प्रजातंत्र प्रणाली की सफलता का श्रेय स्व० पंडित नेहरू को ही है।

शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका कुमारी माया नायकने 'सरोजिनी नायडू' के जीवन के दो प्रमुख किन्तु परस्पर-विरोधी पहलू-'कवियित्री' और 'वीरांगना' —पर अपने धारावाहिक भाषण में बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रकाश डाला और कहा कि वह सच्चे अर्थों में देश की बेटी थी, बहन थी और सबसे अधिक माँ थी।

'महर्षि अरविन्द' पर विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री नरेन्द्र देव वर्मा ने सुलझे हुए विचार व्यक्त करते हुए कहा कि उन्होंने राष्ट्र का निर्माण मानसिक और भौतिक दोनों रूप से किया। सहज प्रज्ञा द्वारा वे मानव को अतिमानव बनाना चाहते थे। वे इस बात से सदैव चिन्तित रहते थे कि यदि यूरोप की भौतिकता की विनाश-कारी हवा भारत में आयेगी तो क्या होगा? इसीलिए राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ भारत की अपनी विशिष्टता कायम रखने की आव-श्यकता पर उन्होंने विशेष जोर दिया।

'नेताजी सुभाष' के साहसी एवं दृढ़ निश्चयी जीवन के विभिन्न पहलुओं पर ओजस्वी वाणी में प्रकाश डालते हुए श्री संतोषकुमार झा ने बताया कि सुभाषचन्द्र बोस की राजनैतिक दृष्टि काफी पैनी थी। राष्ट्र को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन तिल-तिल कर जला दिया। आपने कहा कि 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का प्रस्ताव सुभाषचंद्र का ही था। साथ ही 'आप मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा' का आह्वान भी उन्होंने किया था।

इस रोचक और प्रेरक परिसंवाद के अध्यक्ष पद से बोलते हुए श्री कौशलप्रसाद जी चौबे ने कहा कि राष्ट्रजीवन नदी की धारा की तरह है जिसमें अनेक धाराएँ आकर मिलती हैं, किन्तु कुछ धारायें ऐसी होती हैं जो उसे नया मोड़ देती हैं, नया वेग प्रदान करती हैं– और यही धारा वे महान् आत्मायें हैं जो राष्ट्रजीवन को नया मोड़ देते हैं। श्री चौबे ने आगे कहा कि जब हम अपने राष्ट्रनिर्माताओं के बारे में विचार करते हैं तो हमें दिखाई देता है कि यद्यपि उनके मार्ग और कार्य प्रणालियाँ भिन्न भिन्न थे तथापि वे भारतीय चिन्तनधारा से — जो कि सत्य, प्रेम और सेवा कि त्रिवेणी है — कभी अलग नहीं रहे। इन तीनों को जिसने समझा, अंगीकार किया, वही राष्ट्रनिर्माता बना। और जो इन तीनों की सत्यता की आवश्यकता को मानकर जिस हद तक बढ़ा वह उस हद तक सफल रहा।

२० अगस्त को 'जन्माष्टमी' के उपलक्ष में आश्रम के सत्संग भवन में एक जनसभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर श्रीमती प्रकाशवती मिश्र ने कृष्णावतार के भावनात्मक पक्ष पर तथा आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राध्यापक डा० नाथूराम गोस्वामी ने विचारात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला। स्वामी आत्मानन्द ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कृष्ण के

आविर्भाव-काल की समीक्षा की और कृष्ण के दो रूपों — गोपीजन-वल्लभ और गीतागायक — पर सारगर्भित विचार व्यक्त किये।

इस बीच अन्यत्र भी स्वामी आत्मानन्द के व्याख्यान होते रहे। २४ जुलाई को इन्दौर स्थित श्रीरामकृष्ण आश्रम के तत्त्वावधान में उन्होंने 'धर्म का प्रयोजन' इस विषय पर विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया। २५ जुलाई को झाबुआ के श्रीरामकृष्ण आश्रम द्वारा आयोजित कार्यक्रम में भाग लेते हुए उन्होंने 'स्वामी विवेकानन्द — जीवन और संदेश' पर स्फूर्तिदायक और प्रेरक भाषण दिया। २८से ३१ जुलाई तक श्रीरामकृष्ण आश्रम, इन्दौर में ईशावास्योपनिषद् पर उनके प्रवचन होते रहे।

१ अगस्त को गीता भवन, भोपाल में स्वामीजी ने 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' विषय पर अत्यन्त युक्तियुक्त, वैज्ञानिक और विचारप्रवण भाषण दिया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता मध्यप्रदेश के माननीय वित्तमंत्री श्री शंभुनाथ जी शुक्ल ने की।

३ अगस्त को विवेकानन्द शिला स्मारक समिति, हैवी इलेक्ट्रिकल्स, भोपाल के तत्त्वावधान में आयोजित कार्यक्रम में स्वामी आत्मानन्द ने 'भारत को स्वामी विवेकानन्द का अवदान' विषय पर व्याख्यान दिया। मध्यप्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री के० सी० रेड्डी ने अध्यक्षपद से इस कार्यक्रम को सुशोभित करते हुए अपने आशीर्वचनों द्वारा शिला स्मारक समिति की हैवी ऐलेक्ट्रिकल्स शाखा का उद्घाटन किया।

८ अगस्त को ग्वालियर स्थित रामकृष्ण आश्रम द्वारा आयोजित आध्यात्मिक गोष्ठी में स्वामी जी ने भाग लिया और ९ अगस्त को विवेकानन्द शिला स्मारक समिति, भोपाल द्वारा आयोजित जनसभा को उन्होंने सम्बोधित किया।

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।